

चतुःसूत्री

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य

भाष्यानुवादसहित 'श्रेयस्करी' व्याख्यासहित

(समग्र शाङ्कर प्रस्थानभाष्य के आधारमात्र से किया हुआ
अध्यासभाष्य और चतुःसूत्री व्याख्यान)

॥ श्रीः ॥
चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
517
❀❀❀

चतुःसूत्री

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य

भाष्यानुवादसहित 'श्रेयस्करी' व्याख्यासहित

(समग्र शाङ्कर प्रस्थानभाष्य के आधारमात्र से किया हुआ
अध्यासभाष्य और चतुःसूत्री व्याख्यान)

व्याख्याकारः

परम पूज्य स्वामी परमानन्द भारती जी



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

© सर्वाधिकार सुरक्षित । इस प्रकाशन के किसी भी अंश का किसी भी रूप में पुनर्मुद्रण या किसी भी विधि (जैसे- इलेक्ट्रॉनिक, यांत्रिक, फोटो-प्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग या कोई अन्य विधि) से प्रयोग या किसी ऐसे यंत्र में भंडारण, जिससे इसे पुनः प्राप्त किया जा सकता हो, प्रकाशक की पूर्वलिखित अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता है।

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्-चतुःसूत्री

ISBN : 978-93-80326-84-9

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन

पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001

दूरभाष : 2335263

URL : www.exoticindia.com

email : csp_naveen@yahoo.co.in

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण 2011

तृतीय संशोधित संस्करण 2016

₹ 250

वितरक

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)

गली नं. 21-ए, अंसारी रोड

दरियागंज, नई दिल्ली 110002

दूरभाष : 23286537

Email : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

•

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)

पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

•

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर

पो. बा. नं. 2113, दिल्ली 110007

मुद्रक

डीलक्स ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली

समर्पण

ग्रंथरचना के समय संदर्भानुसार भाष्यवाक्यों की स्मृति को
जो पैदा करता था उस सर्वहृदय सन्निविष्ट
वेदवेद्य वेदान्तसंप्रदायकर्त्ता भगवान्
श्रीकृष्ण परमात्मा
के
कमलचरणों में समर्पित ।

प्रकाशकीय

भगवान शंकराचार्यजी द्वारा रचित ब्रह्मसूत्रों के उपोद्घात और प्रथम चार सूत्रों का भाष्य-इन पर अनेक व्याख्यान उपलब्ध हैं। प्रस्तुत ग्रंथ भी एक व्याख्यान ही है, परन्तु इस ग्रंथ की विशेषता यह है:-

यह व्याख्यान मान कर चलता है कि सिद्धान्त को भली-भान्ति ग्रहण कराने के लिये शांकरभाष्य अपने-आप में परिपूर्ण है। जहाँ कहीं अस्पष्टता हो तो स्पष्टता के लिये उसी विषय को भाष्य में ही कहीं और ढूँढना चाहिये, न कि अपनी कल्पनायें जोड़ कर अपना वाञ्छित अर्थ निकालने का प्रयत्न करना चाहिये। जब शांकर सिद्धान्त के विषय में सब संशय-जो कि निस्संदेह बहुत हैं-निवृत्त हो जायेंगे, तो हमें विश्वास है कि उसके अध्ययन से आप अत्यधिक आनन्द प्राप्त करेंगे।

पूज्य स्वामीजी की दो पुस्तकों 'धर्म के आधार' और 'वेदान्त प्रबोध' को प्रकाशित करने का सौभाग्य हमें पहले ही प्राप्त हो चुका है। इसके लिये हम पूज्य स्वामीजी के अत्यन्त आभारी हैं। आशा है कि हम भविष्य में भी उनकी कृपादृष्टि के पात्र बने रहेंगे।

हम पुनः पूज्य स्वामीजी के चरण-कमलों में अपनी श्रद्धा के सुमन अर्पित करते हैं।





श्री श्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य महासंस्थानम् ,
दक्षिणाम्नाय श्री शारदापीठम् , शृङ्गेरी
Sri Sri Jagadguru Shankaracharya Mahasamstanam
Dakshinamnaya Sri Sharada Peetham, Sringeri - 577 139.

Ref :

Camp : SRINGERI

Date :

दक्षिणाम्नायशृङ्गेरीशारदापीठाधीश्वराणां जगद्गुरुशङ्कराचार्याणां
अनन्तश्रीविभूषितानां श्रीश्रीभारतीतीर्थमहास्वामिनां सन्देशः ॥

परशिववतारभूतैः श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यैः विरचितेषु ग्रन्थतल्लक्ष्णेषु ब्रह्मसूत्रभाष्यं
सर्वोत्कृष्टतया विराजते । भगवता वादरायणेन विरचितायाः चतुर्लक्षण्याः
शारीरकमीमांसाया यथावदर्थवबोधकं भाष्यमिदमासेतोरातुपाराद्रेस्सर्वैरप्यास्तिकैः सभक्ति
समाहृतं चकारिस्ति । भगवत्पादसाक्षाच्छिष्यान् पद्मपादाचार्यान्तरभ्य बहवो विद्वत्तल्लक्षाः
भाष्यमिदं व्याख्याय आत्मानं अन्याश्च धन्यान् व्यधासिषुः । भाष्यस्यास्य मननेन
वेदान्तसिद्धान्तः स्फुटतरमवबोधुं पार्यते ।

परमहंसाः श्रीपरमानन्दभारतीस्वामिनः सूत्रभाष्यं स्वबुद्धिविभवानुसारमनुशीलयन्तः भाष्यस्य
चतुस्सूत्र्याः विवरणे कृतवन्तः । तदिदं वयमबालोकयाम । स्वामिनां भगवत्पादेषु असाधारणी
भक्तिः । सैव हि भवार्णवतरणे नौका । श्रीशारदाचन्द्रमीलीश्वरपौरसीमया कृपया स्वामिन इमे
इत्थमेव भगवत्पादोपदिष्टसिद्धान्तचिन्तनपराः स्वं जनुः सार्थकयन्तित्याशास्महे ।

शृङ्गेरिः

इति नारायणस्मरणम्

विजयवत्सरीयाश्वयुजकृष्णपञ्चमी

गुरुवासरः - 24.10.2013



Phone : 08265-250123 / 250192 Fax : 08265-250792

E-mail : info@sringerisharadapeetham.org Visit us : www.sringerisharadapeetham.org

दक्षिणाम्नाय शृङ्गेरीशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्तश्रीविभूषित श्री श्री भारती तीर्थ महास्वामी जी का दिव्य सन्देश

परमशिव के अवतार श्री शंकर भगवत्पादाचार्य द्वारा रचित ग्रन्थों में उनका ब्रह्मसूत्रभाष्य सर्वोत्कृष्ट है। भगवान् बादरायण द्वारा विरचित चतुर्लक्षणी शारीरकमीमांसा का यथार्थावबोधन कराने वाला यह भाष्य रामेश्वरम् से लेकर हिमालय तक सभी आस्तिकों द्वारा भक्तिपूर्वक समादृत है। भगवत्पाद के साक्षात् शिष्य पद्यपादाचार्य से लेकर कई श्रेष्ठ विद्वानों ने इस भाष्य की व्याख्या करके अपने को और औरों को धन्य किया है। इस भाष्य के मनन से वेदान्तसिद्धान्त स्पष्ट रूप से समझ आ सकता है।

परमहंस श्री परमानन्द भारती स्वामी ने अपनी विद्वतानुसार भाष्य का अनुशीलन करते हुये चतुःसूत्री का विवरण किया है। इसका हमने अवलोकन किया है। स्वामी जी की भगवत्पाद में असाधारण भक्ति है। वह ही भवसागर को पार करने के लिये नौका है। हम प्रार्थना करते हैं कि शारदा देवी और भगवान् चन्द्रमौली की असीम कृपा से स्वामी जी को भगवत्पाद द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त के चिन्तन में तत्पर रहते हुये अपने जीवन की सार्थकता मिले।

विषय सूची

१. समर्पण	v
२. प्रकाशकीय	vii
३. अध्यासभाष्य	१-४२
४. ब्रह्मसूत्रों का दिग्दर्शन	४३-४५
५. जिज्ञासाधिकरण	४६-६१
६. जन्माद्यधिकरण	६२-७९
७. शास्त्रयोनित्वाधिकरण	८०-८४
८. समन्वयाधिकरण	८५-१२८
९. शब्दानुक्रमणिका	१२९-१३१
१०. संकेतसूची	१३२
११. श्रेयस्करी में आये शास्त्रवाक्यों और भाष्यवाक्यों की सूची	१३३-१५०



चतुःसूत्री

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य

भाष्यानुवादसहित 'श्रेयस्करी' व्याख्यासहित

करुणामय ईश्वर ने सभी प्राणियों को तीन अवस्थाएँ प्रदान की हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत् अवस्था में जीव बाह्य विषयों की प्रज्ञा (ज्ञान) प्राप्त करता है इसलिये उसे बहिष्प्रज्ञ कहते हैं। विषयों के साथ इस व्यवहार को करते हुये जब वह थक जाता है तब जीव निद्रा के लिये जाता है। जब शरीर और इन्द्रियाँ उससे अपना सम्बन्ध छोड़ देती हैं तो वह स्वप्नावस्था का अनुभव करता है। जाग्रत् में अनुभव की गयी विभिन्न पदार्थों की वासनाएँ ही स्वप्न में विषयों का काम करती हैं। चूँकि ये वासनाएँ अन्दर ही अनुभव की जाती हैं, इसलिये स्वप्नावस्था में जीव को अन्तःप्रज्ञ कहते हैं। जाग्रत् में जीव को विषयों की प्रज्ञा ब्राह्म प्रकाश की सहायता से होती है किन्तु स्वप्न का प्रकाश आन्तरिक है। इस प्रकार, स्वप्नावस्था में मन ही एक-एक करके विषय और विषयी बनता है। बार-बार विषय और विषयी बनने के इस स्पंदन व्यवहार से जब मन थककर निष्क्रिय हो जाता है, तब जीव उससे भी छूट जाता है और सुषुप्ति में प्रवेश करता है। इस निरुपाधिक अवस्था में जीव को शास्त्र प्राज्ञ नाम देता है (मा.भा. ५)। इस अवस्था में जीव एकमात्र रह कर, आनन्दमय हो जाता है। जो प्रकाश जाग्रत् और स्वप्न में इन्द्रियों और मन को प्रकाशित करता है वह वास्तव में इस प्राज्ञ का ही है। सुषुप्ति से उठने के बाद वह कहता है कि “मन और इन्द्रियों के अभाव में मैंने गहरी नींद का आनन्द लिया”। यह सिद्ध करता है कि जीव को मन और इन्द्रियों के अभाव का अनुभव जिस प्रकाश के द्वारा हुआ वह उसका स्वधर्म ही है। इसलिये, मन आदि उपाधि जड़ ही हैं। वे तमस् स्वभाव की हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व और प्रकाशत्व इस निरुपाधिक प्राज्ञ के ही धर्म हैं।

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के इस विश्लेषण से एक विस्मयकारी तथ्य सामने निकल कर आता है। वह यह है कि जाग्रत् में सब स्वभाविक रूप से अपने को समझते हैं कि 'मैं पुरुष हूँ,

युवा हूँ' इत्यादि। शरीर के आधार पर की गयी इस पहचान के विषय में किसी को कोई संशय नहीं होता। परन्तु अपनी स्वप्नावस्था के विषय में पूछे जाने पर उसे थोड़ी कठिनाई होती है—वह कहेगा “मैं तालाब में तैर रहा था”। अगर उससे पूछा जाये कि “क्या तुम वह हो जो उस समय बिस्तर पर था? या वह जो तालाब में तैर रहा था?” तो वह संशय में पड़ जायेगा। यह स्पष्ट है कि जो तैर रहा था वही बिस्तर पर लेटा हुआ नहीं हो सकता है। इस प्रकार, स्वप्नसमीक्षा से उसे अपने बारे में संशयज्ञान उत्पन्न होता है जो कि उसकी जाग्रत् में की गयी धारणा कि ‘मैं पुरुष हूँ’ इत्यादि की अपेक्षा अनिश्चित है। और यदि उससे फिर यह पूछा जाये कि “सुषुप्ति में तुम कहाँ थे? क्या थे?” तो वह यही कहेगा कि “मैं नहीं जानता सुषुप्ति में मैं कौन था, कहाँ था”। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मन आदि उपाधियों से मुक्त होने पर जब वह एकमात्र अकेला रह जाता है तो जीव को अपने विषय में अज्ञान रहता है। किन्तु इस अज्ञान में भी उसे यह तो स्पष्ट रहता ही है कि कम से कम सुषुप्ति के समय तो वह मन, इन्द्रिय, शरीर, सब उपाधियों से रहित अकेला ही था। कोई भी यह नहीं कहता कि वह सुषुप्ति के समय “नहीं था”। इसलिये, यदि उसे समझाया जाता है कि अपने आप को उसने जो ‘पुरुष, युवा’ इत्यादि के रूप में पहचाना है वह मिथ्याज्ञान है तो बिना कठिनाई वह समझ लेगा। यह बात और है कि वह यह अवश्य कहता है कि इस मिथ्याज्ञान को छोड़ना बहुत कठिन है। यह तो सकललोकप्रत्यक्ष है ही। ‘मैं कौन हूँ’, यह नहीं जानना ही जीव की अविद्या है। सुषुप्ति के अपने अनुभव के आधार पर यह जानते हुये भी कि शरीरादि से उसका सम्बन्ध नहीं है, जाग्रत् में उसको यह मिथ्याज्ञान रहता है कि मैं शरीरादि हूँ। यही मिथ्याज्ञान उसका अध्यास है। इसके आधार पर ही वह ‘मैं और तुम’ रूपी विषमता का निर्माण करता है, रागद्वेष से उसका मिश्रण करता है और संसार में फँस जाता है। संसारव्यवहार सबके लिये स्वभाविक होने पर भी अध्यासभाष्य का तात्पर्य हमें यह समझाने में है कि यह सारा व्यवहार अध्यास के कारण ही होता है। सबके अनुभव में आने वाली तीनों अवस्थाओं से हटकर एक शब्द भी बिना कहे भाष्यकार अपनी समीक्षा प्रस्तुत करते हैं, जिससे सबको यह अविद्या समझ में आ जाती है। इससे हमें भगवान् भाष्यकार के अनुपम उपदेशनैपुण्य और परमकारुण्य की झलक मिलती है। उसके श्रवणमात्र से एक साधारणबुद्धि साधक को भी अपनी भारी भूल का आसानी से पता पड़ जाता है। इसके बाद साधक में स्वभाविक रूप से ही आगे प्रस्तुत शारीरिक मीमांसा के विषय में श्रवण करने की इच्छा पैदा होती है जिसका फल आत्मैकत्व-अवगति है। इस प्रकार, अध्यासभाष्य शारीरिक अर्थात् जीवमीमांसा के लिये उपोद्घात है।

कुछ लोग भाष्यकार में यह दोष देखते हैं कि उन्होंने ग्रन्थ के आरंभ में मंगलाचरण नहीं किया है। ऐसे लोगों ने प्रकरण (संदर्भ) को नहीं समझा है। **मंगलाचरण उसी के लिये सप्रयोजक है जिसने अपने अविद्यारूपी दोष को जान लिया है**, जिसने नहीं जाना है उस मूर्ख के लिये नहीं। अध्यासभाष्य मूल ग्रन्थ का भाग नहीं है। वह तो ग्रन्थ की भूमिका है जो साधक को मंगलसन्देश के लिये तैयार करती है। साधनसम्पत्ति से सम्पन्न साधक के लिये तो सूत्रकार द्वारा प्रयुक्त 'अथ' शब्द का श्रवणमात्र ही मंगलसूचक है। उसमें एक और सन्देश जोड़ना शिष्टों का व्यवहार नहीं है।

अब आगे भाष्यवाक्यों की यथाशक्ति विमर्शा की जाती है:-

१. युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः

१. तुम और मैं ऐसी प्रतीति के योग्य

(१.१) प्रत्यय का अर्थ है बोध; अर्थात्, किसी वस्तु का ज्ञान होना। जब एक प्रत्यक्ष घट का बोध होता है तब बुद्धि घटाकार लेती है, इसी को प्रत्यय कहते हैं। इसीलिये, जब घटप्रत्यय बनता है तभी हम कहते हैं कि घट का ज्ञान हुआ है। घटप्रत्यय का विषय घट ही है। इस प्रकार सभी ज्ञात वस्तुएँ गोचर हैं अर्थात् जानने में आने वाली हैं। ये सब युष्मत् शब्द में समाहित हैं और ज्ञाता अस्मत् शब्द में समाहित है। भगवान् श्रीकृष्ण के शब्दों में अगर कहें तो युष्मत् शब्द का अर्थ क्षेत्र है और अस्मत् शब्द का अर्थ क्षेत्रज्ञ है (गीता १३.१)।

(१.२) प्रश्न: युष्मत् शब्द का अर्थ 'तुम' है, जो कि चेतन है, परन्तु क्षेत्र तो जड़ है; तो फिर युष्मत् को क्षेत्र कैसे कह सकते हैं?

उत्तर: क्षेत्र क्योंकि जड़ है, इसलिये, अगर उसे युष्मत् के स्थान पर इदं शब्द से लक्षित किया होता तो उसका जो जीव से भिन्नत्व है वह स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि जीव अपने को इदं (यह शरीर) ही समझता है। परन्तु यहाँ पर ध्येय यह समझाना है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अत्यन्त भिन्नस्वभाव के हैं। यह भिन्नत्व जीव के अनुभव के आधार पर ही समझाना उचित है वरना उसे समझ नहीं आयेगा। अभी उसकी समझ में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ भिन्न नहीं हैं। वह अपने को और दूसरों को भी जड़ शरीर से अभिन्न समझता है। फिर भी वह स्वभाववश अपने को दूसरों से भिन्न भी समझता ही है। इसलिये, अगर क्षेत्र को युष्मत् कहा जाता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्मत् उससे भिन्न ही है। परन्तु, क्षेत्रज्ञ को जड़ शरीर से अलग करने का कार्य तो अभी भी रहता है। यह विभाग करने के लिये ही अगले ही शब्द में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को क्रमशः विषय-विषयी कहा गया है। इस प्रकार, पहले क्षेत्र को युष्मत् और फिर विषय कहकर दो सोपानों में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भिन्न स्वभाव स्पष्ट किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि समस्त जगत् युष्मत्प्रत्ययगोचर है और 'मैं' अस्मत्प्रत्ययगोचर। स्वयं 'मैं' ही अस्मत्प्रत्यय का विषय हूँ।

२. विषयविषयिणोः

२. विषय और विषयी का

(२.१) षिञ् बन्धने, इस धातु से विषय पद बना है। 'विसिनोति निबध्नाति विषयिणम् इति विषयः' विषयी को जो बान्धता है उसे विषय कहते हैं।

विषय को जानने वाला ही विषयी है। जब विभिन्न इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से सम्पर्क होता है तभी विषयी के लिये शब्दादि विषय निश्चित होते हैं। तत्पश्चात् बुद्धि में सम्बन्धित प्रत्यय उत्पन्न होता है। यही है वह बन्धन जो विषयी को विषय से बान्धता है। सम्पूर्ण जगत् विषयकोटि में ही आता है। तब उसका विषयी कौन है? शब्दादि विषयों के लिये श्रोत्रादि इन्द्रियाँ विषयी हैं; श्रोत्रादि इन्द्रियों के लिये मन विषयी है; मन के लिये बुद्धि विषयी है; बुद्धि के लिये अहंकार विषयी है: 'मैं बुद्धि-प्रत्ययों को जानने वाला हूँ' यह भाव ही अहंकार है। जाग्रत् और स्वप्न में यह अहंकार स्पष्ट है। लेकिन क्या अहंकार का भी कोई विषयी है? यदि हाँ तो वह कौन है? यह प्रश्न है। अहंकार किसके लिये विषय है? मेरे लिये। मैं कौन हूँ? सुषुप्ति में अहंकार से लेकर शब्दादि जगत् तक सबके अभाव को जो जानता है, वह प्राज्ञ ही मैं हूँ।

प्रश्न: सुषुप्ति में जगत् के अभाव को पहचानने का अनुभव किसी को भी नहीं है। इसलिये ये कैसे सिद्ध होता है कि सुषुप्ति में प्राज्ञ विषयी है?

उत्तर: ऐसा नहीं है। यह सत्य है कि सुषुप्तिकाल में किसी विषय का अनुभव नहीं होता। परन्तु जागने के बाद, 'सुषुप्ति के समय कोई भी विषय नहीं था'—यह कथन उस समय का अनुभव ही है। इस अनुभव के आधार पर ही प्राज्ञ अहंकार का भी विषयी माना जाता है—'भूत भविष्यज्जातृत्वं सर्वविषयज्ञातृत्वम् अस्य एव इति प्राज्ञः। सुषुप्तोऽपि हि भूतपूर्वगत्या प्राज्ञ उच्यते।' भूत भविष्यत् का तथा सम्पूर्ण विषयों का ज्ञाता यही है, इसलिये यह प्राज्ञ है। सुषुप्त होने पर भी इसे भूतपूर्व गति से प्राज्ञ कहा जाता है। (मां. भा.५)

(२.२) इस प्रकार बाह्यजगत्-इन्द्रिय-मन-बुद्धि-अहंकार-प्राज्ञ, ये ज्ञानक्रिया की शृंखला है। इसमें जगत् हमेशा विषय है और प्राज्ञ हमेशा विषयी है। इन्द्रिय-मन-बुद्धि-अहंकार में से हर एक अपने से पहले वाले का विषयी होने पर भी बाद वाले के लिये विषय बनता है। यथार्थतः तो उनको विषयित्व भी प्राज्ञ के सान्निध्य से ही प्राप्त है, स्वतन्त्र रूप से वे विषयी नहीं हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि प्राज्ञ के अन्दर रहकर उसका भी विषयी बनने वाला विषयी लोगों के अनुभव में न रहने से, प्राज्ञ ही मूलविषयी है। जगत् से लेकर अहंकार तक सम्पूर्ण क्षेत्र उसके लिये विषय हैं, इसलिये वह ही क्षेत्रज्ञ है।

३. तमः प्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोः

३. अन्धकार और प्रकाश के समान विरुद्ध-स्वभाव वाले

(३.१) क्षेत्र तमोरूप है, क्षेत्रज्ञ प्रकाशरूप है। दोनों का स्वभाव विरुद्ध है।

प्रश्न: क्षेत्रज्ञ प्राज्ञ प्रकाशरूप कैसे है?

उत्तर: जाग्रत् में बाह्य पदार्थों के ज्ञान के लिये सूर्यादि का बाह्य प्रकाश आवश्यक है। परन्तु उनकी अनुपस्थिति में भी स्वप्न में ज्ञानक्रिया तो चलती ही रहती है। इस क्रिया के लिये भी प्रकाश तो आवश्यक है ही फिर यह प्रकाश कौन सा है? यह प्रकाश आन्तरिक ही हो सकता है बाह्य नहीं, क्योंकि स्वप्न में बाह्य प्रकाशों का प्रवेश नहीं है। यह प्रकाश कौन सा है इस प्रश्न पर देहात्मवादी उत्तर देगा कि 'चूंकि स्वप्न में एकमात्र मन ही रहता है, इसलिये यह प्रकाश मन का ही है।' लेकिन यह कथन संगत नहीं क्योंकि मन जड़ है। सुषुप्ति में मन की अनुपस्थिति प्राज्ञ के अनुभव में है। इसलिये मन भी विषय ही है, अर्थात् क्षेत्रकोटि का ही है, और तमोरूप है, उसमें प्रकाशधर्म नहीं है। प्राज्ञ ही प्रकाशधर्म वाला है क्योंकि वह किसी का भी विषय नहीं बन रहा है।

(३.२) साधारणतया लोग यही समझते हैं कि केवल सूर्यादि का प्रकाश ही, जो कि किसी भी वस्तु को देखने/पहचानने के लिये आवश्यक है, असल में प्रकाश है। इसीलिये, यह समझना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि प्राज्ञ प्रकाशरूप है। प्रकाश आखिर कहते किसको हैं? 'यद् यद् कस्यचिदवभासकं तत् तत् ज्योतिः शब्देन अभिधीयते—जो-जो किसी वस्तु का प्रकाशक है, उस-उस को ज्योति कहा जाता है'(सू.भा.१.१.२४)। ज्योति ही प्रकाश है। रूप जिस प्रकार सूर्यादि के प्रकाश द्वारा वस्तु को समझाता है, उसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध द्वारा भी वस्तु जानी जाती है। कुत्ते का भौंकना सुनकर हम अन्धकार में भी ग्राम पहुँच जाते हैं; स्पर्श से पुस्तक आदि की जानकारी मिलती है। इसलिये, शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध भी प्रकाश ही हैं। इन प्रकाशों का प्रकाश प्राज्ञ है।

(३.३) विषय-विषयी के विरुद्ध स्वभावों को समझाने के लिये यहाँ सादृश्य से तम-प्रकाश कहा है। इस सादृश्य की सार्थकता के लिये कुछ लोग तमस् को भावरूप कहते हैं। यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकाश से प्रकाशित रूप के द्वारा तो वस्तुज्ञान होता है परन्तु अन्धकार में नहीं होता। इसलिये तमस् और प्रकाश विरुद्ध हैं। लेकिन शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध का प्रकाश ऐसा नहीं है। इनके द्वारा भी वस्तु का ज्ञान तो होता है; लेकिन तमस् जैसे प्रकाश का प्रतियोगी है, शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध के लिये वैसा कोई प्रतियोगी नहीं है। इसलिये, तमस् को भावरूप सिद्ध करने वाले तर्कश्रम से लाभ नहीं है। प्रकाश और तमस्, चित् और जड़ के भिन्न स्वभावों को दिखाने के लिये दिया हुआ केवल दृष्टान्त है। भाष्यकार ने अगले वाक्य में 'विषयिणि चिदात्मके' कहकर चिद्रूप विषयी को जड़ जगत् से अलग करके यही कहा है।

(३.४) **प्रश्न:** तमप्रकाशों की व्याख्या के बाद एक प्रश्न यह उठता है कि प्राज्ञ तो प्रत्यगात्मा

(अन्दर की आत्मा) है। लेकिन तुरीय (शुद्धात्मा) तो प्रत्यक्तर आत्मा है, ऐसे में क्या शुद्धात्मा को ही मूलविषयी के रूप में रखना ज्यादा उचित नहीं है?

उत्तर: नहीं; क्योंकि अध्यासभ्रम में जो फँसा हुआ है वह क्षेत्रज्ञ जीव ही है, तुरीय शुद्धात्मा नहीं। इसलिये भाष्यकार ने क्षेत्रज्ञ को ही विषयी माना है, तुरीय को नहीं। गीताभाष्य में इसे स्पष्ट कहा है:-

‘क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः विषयविषयिणोः भिन्नस्वभावयोः इतरेतर-तद्धर्माध्यासलक्षणः संयोगः क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूप विवेकअभावनिबन्धनः रज्जुशुक्तिकादीनां तद्विवेकज्ञानाभावाद् अध्यारोपित-सर्परजतादिसंयोगवत्। सोऽयम् अध्यासस्वरूपः क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगः मिथ्याज्ञानलक्षणः’-क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, जो कि विषय और विषयी हैं तथा भिन्न स्वभाव वाले हैं उनका, अन्य में अन्य के धर्मों का अध्यासरूप संयोग है। यह संयोग, रज्जु और सीप आदि में, उनके स्वरूपज्ञान के अभाव के कारण अध्यारोपित सर्प और रजत आदि के संयोग के समान, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के वास्तविक स्वरूप को न जानने के कारण है। वह यह अध्यासस्वरूप क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग मिथ्याज्ञान है (गीता. भा.१३.२६)। गीताभाष्य का यह वाक्य ही सूत्रभाष्य का प्रस्तुत वाक्य है-**‘युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोः तमःप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोः इतरेतरभाव-अनुपपत्तौ सिद्धायां’** इत्यादि। यह हमें सदैव ध्यान रखना है। इसलिये, विषयी के स्थान पर हमें किसे रखना है इसका निश्चय हम अपनी अल्पबुद्धि से नहीं कर सकते। शुद्धात्मा को विषयी के स्थान पर रखना किस प्रकार विपत्कारी है, इसका विश्लेषण हम आगे करेंगे।

(३.५) **प्रश्न:** कोई विषयी स्वयं अपना विषय नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्यगात्मा प्राज्ञ भी अपना विषय नहीं बन सकता; तब, वह अस्मत्प्रत्ययगोचर कैसे हो सकता है? गोचर हुआ तो वह विषय ही हो गया न?

उत्तर: ठीक है। जाग्रत् और स्वप्न के समान सुषुप्तिकाल में अहंप्रत्यय नहीं रहता। इसलिये प्राज्ञ ही प्राज्ञ को विषय नहीं होता। लेकिन बुद्धिप्रत्यय को प्राप्त कर सकने वाले बहिष्प्रज्ञ के लिये यह विषय है। कैसे? सुनो: सब सुषुप्ति से उठने के बाद **‘न किञ्चिदवेदिषं सुखमहमस्वाप्सम्’**-“मैं सुख से सोया। मैंने कुछ भी नहीं जाना”, ऐसा कहकर प्राज्ञ को ही पहचानते हैं। **‘बीजावस्थापि ‘न किञ्चिदवेदिषम्’ इति उत्थितस्य प्रत्ययदर्शनात् देहे अनुभूयत एव’**-जागने के बाद ‘मुझे कुछ भी पता नहीं रहा’ इस प्रकार प्रत्यय उत्पन्न होने से बीजावस्था भी देह में अनुभव को आती ही है’ (मां.का.भा. १.२)। इसलिये प्राज्ञ बहिष्प्रज्ञके लिये विषय है, यह सबका अनुभव है। लेकिन बहिष्प्रज्ञ अपने आपको निश्चित रूप से जैसे ‘पुरुष, युवा’ आदि समझता है, उस प्रकार प्राज्ञ को नहीं जानता है; इसलिये, जानने को उत्सुक होता है। इसको इतना रहने दो। बाद में हम विश्लेषण करेंगे कि जो विषय नहीं हो सकता वह आखिर विषय बनता कैसे है?

(३.६) इस प्रकार यह प्रसिद्ध है कि क्षेत्र, जो कि विषय और तमोरूप है, विषयी और प्रकाशधर्मवाले क्षेत्रज्ञ से अत्यन्त विलक्षण है। यह भी प्रसिद्ध है कि प्राज्ञ और जगत् प्रत्ययगोचर हैं। इस प्रकार, दोनों में एक ही सादृश्य है-विषयत्व।

४. इतरेतर भावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतराम् इतरेतरभावानुपपत्तिः।

४. एक का भाव दूसरे का नहीं है, ऐसा सिद्ध होने पर, उनके धर्मों का भी तादात्म्य नितरां नहीं बन सकता, यह सिद्ध ही है।

(४.१) ज्ञानक्रिया तभी संभव है जब विषय और विषयी भिन्न हों। अगर वे भिन्न नहीं हैं तो ज्ञानक्रिया असंभव है। सब जानते हैं कि क्षेत्रज्ञ विषयी है और क्षेत्र विषय। इसलिये, यह प्रसिद्ध है कि एक का दूसरा होना, या फिर एक का धर्म दूसरे में होना असाध्य है।

५. इत्यतः अस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां च अध्यासः

५. इसलिये 'मैं' ऐसी प्रतीति के योग्य जो चैतन्यस्वरूप विषयी है उसमें 'तुम' इस प्रतीति के योग्य जो विषय (देहादि जड़ अनात्म वस्तु) हैं, उनका, एवं उनके धर्मों का अध्यास-

(५.१) फिर भी हम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को मिला देते हैं। पुरुषत्व, स्त्रीत्व आदि शरीरधर्म, सुनना आदि इन्द्रियधर्म, ज्ञानक्रिया आदि बुद्धिधर्म, ये सब क्षेत्र और उसके धर्म हैं। ज्ञातृत्व क्षेत्रज्ञ का धर्म है। इस प्रकार, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के धर्म अत्यन्त भिन्न हैं। सबका अनुभव यही है कि ज्ञाता प्राज्ञ का क्षेत्र से सम्बन्ध नहीं है। इससे कोई भी अनभिज्ञ नहीं है। तो भी हम कभी 'मेरी बुद्धि, मेरी आँख, मेरा शरीर' ऐसा कहकर अपने को बुद्धि-इन्द्रिय-शरीर से अलग करते हैं, और कभी 'मैं बुद्धिमान, मैं अन्धा, मैं पुरुष' कहकर बुद्धि-इन्द्रिय-शरीर को स्वयं ही समझकर व्यवहार करते हैं। अर्थात् क्षेत्र को ही 'स्वयं' इस प्रकार गलत समझते हैं। इसी प्रकार, बुद्धि-इन्द्रिय-शरीर के धर्मों को स्वयं मानकर 'मैं निश्चय करता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं काला हूँ' इत्यादि कहते हैं। उतना ही नहीं-

६. तद्विपर्ययेण विषयिणः तद्धर्माणां च विषये अध्यासः

६. और इसके विपरीत, विषय में विषयी और उसके धर्मों का अध्यास

(६.१) तद्विपरीत क्षेत्र में प्रत्यगात्मा के धर्मों का भी अध्यास करते हैं। कैसे? हम इससे अनभिज्ञ नहीं है कि सुषुप्ति में हम निर्विषय सुख का आनन्द लेते हैं। इसलिये स्पष्ट है कि यह सुख प्राज्ञ का धर्म है। ऐसा विवेक रखने की बजाय प्राज्ञ कहता है कि 'सुषुप्ति में मुझे सुख का ज्ञान नहीं था, इसलिये मैं यह कैसे कह सकता हूँ कि उस समय मैं सुखी था? यह भी तो हो सकता है कि सुषुप्ति केवल दुःख से रहित

एक अवस्था हो?' इस प्रकार अपने ही अनुभव पर सन्देह करते हुये वह जाग्रत् में फिर दुबारा से विषयों में ही सुख खोजता है; विषयसुखों के भोग में ही अपने को सुखी मानता है अन्यथा असुखी मानता है। तात्पर्य यह है कि विषयीधर्म सुख का विषय में अध्यास करता है। इसी तरह, सर्वविषयज्ञातृत्व प्राज्ञ का स्वधर्म होने पर भी वह कहता है:- 'सुषुप्ति में मुझे कुछ भी पता नहीं पड़ा, इसलिये मैं ज्ञाता कैसे हो सकता हूँ?' इस प्रकार संशय करते हुये वह जागने के बाद ज्ञातृत्व को अपनी बुद्धि में देखता है। उसको लगता है कि वह तभी ज्ञाता होता है जब वह बुद्धि के साथ होता है; अन्यथा बुद्धि से रहित अपने को चैतन्यरहित सा मानता है। इस तरह वह स्वधर्म ज्ञातृत्व का बुद्धि में अध्यास करता है। इससे स्पष्ट है कि विषय-विषयी का जो प्राज्ञ (वह) परस्पर अध्यास कर रहा है वह गलती से नहीं बल्कि जानबूझकर कर रहा है। अर्थात्, गुरु के द्वारा गलती को समझने के बाद भी वह अपने को सुधारने में असमर्थ है।

७. मिथ्या इति भवितुं युक्तम्।

७. मिथ्या ही होना है।

(७.१) अर्थात्, 'यह रजत नहीं शुक्ति है', ऐसा समझने के बाद भी शुक्ति का परीक्षण करके उसका निश्चय करने के संकल्प के अभाव में जैसे रजतज्ञान में ही आगे बढ़ना मिथ्याज्ञान है, उसी प्रकार यह अध्यास भी ठीक मिथ्याज्ञान है। प्राज्ञ में न रहनेवाले शरीरादि धर्मों को प्राज्ञ में देखना हो, या विषय और बुद्धि में न रहने वाले सुख और ज्ञातृत्व को विषय और बुद्धि में देखना हो, ये सब मिथ्याज्ञान ही हैं। मिथ्याज्ञान का विषय मिथ्या है-अर्थात्, दिखायी देने पर भी असत् है। उदाहरण के लिये, शुक्ति में न रहनेवाला रजत दिख पड़ने पर भी असत् है। इसलिए मिथ्या है। यहाँ याद रखनेवाली बात यह है कि रजत वस्तु मिथ्या नहीं है, शुक्ति में दिखने वाला रजत मिथ्या है। मरीचिका में दिखायी देने वाला पानी असत् है। इसलिए मिथ्या है। यहाँ मरीचिका प्रातिभासिक सत्य है, पानी व्यावहारिक सत्य है। दोनों सत्य हैं-मिथ्या नहीं। इसलिये, 'पानी जैसी दिखने वाली मरीचिका' ऐसा समझना मरीचिका का यथार्थ ज्ञान है। उसको पानी ही समझना मिथ्याज्ञान है। इस मिथ्याज्ञान का विषय पानी मिथ्या है-असत् है, क्योंकि वह पानी नहीं है। उसी प्रकार, जगत् और उसके धर्म, प्राज्ञ और उसके धर्म, ये सब व्यावहारिक सत्य हैं मिथ्या नहीं। लेकिन, प्रत्यगात्मा में देखे हुये जगद्धर्म हों, या जगत् में देखे हुये प्रत्यगात्मा के धर्म हों, मिथ्या ही हैं; क्योंकि जगत् में प्रत्यगात्मा नहीं, प्रत्यगात्मा में जगत् नहीं। हमने यदि इस प्रकार न कहकर नियम से हमेशा ऐसा ही कहा कि 'जो अध्यस्त है वह मिथ्या है, दिखायी देने पर भी असत् है इसलिये प्रत्यगात्मा में अध्यस्त जगत् मिथ्या-असत् है' यह बहुत बड़ी भूल होगी क्योंकि तद्विपर्यय अध्यास में प्रत्यगात्मा अध्यस्त है। इस नियम को स्वीकार करने से तो प्रत्यगात्मा असत् हो जायेगा। यह असाध्य है। **'अध्यासः मिथ्या इति भवितुं युक्तम्'** कहकर विषय-विषयी के परस्पर अध्यास को ही मिथ्या कहा है न कि स्वयं विषय-विषयी को। यह सदैव स्मरण रखने की बात है।

८. तथापि अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकताम् अन्योन्यधर्माश्च अध्यस्य इतरेतरा-
विवेकेन अत्यन्तविविक्तयोः धर्मधर्मिणोः मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य
“अहमिदम्”, “ममेदम्” इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।

८. तो भी धर्म और धर्मी, जो कि अत्यन्त भिन्न हैं, इनका परस्पर भेद न समझकर, अन्योन्य
में अन्योन्य के स्वरूप और अन्योन्य के धर्म का अध्यास करके, सत्य और अनृत का मिथुनीकरण
करके ‘मैं यह’ ‘यह मेरा’ ऐसा मिथ्याज्ञाननिमित्त यह स्वभाविक लोकव्यवहार चलता है।

(८.१) इस प्रकार दोनों ओर से अध्यास होते रहने से इतना तो स्पष्ट है कि जैसे शुक्ति का अज्ञान
उसमें रजताध्यास का हेतु होता है, उसी प्रकार प्रत्यगात्मस्वरूप का अज्ञान उसमें देहाध्यास का, और
जगत्स्वरूप का अज्ञान उसमें प्रत्यगात्मा के अध्यास का हेतु बनता है। अर्थात् जीव न तो प्रत्यगात्मा का
स्वरूप जानता है, न जगत् का। वह उन दोनों के स्वरूप को न जानकर उनके व्यवहार से ही उन्हें पहचानता
है। व्यवहार स्वरूप को छोड़कर नहीं रह सकता है, परन्तु स्वरूप व्यवहार को छोड़कर ही रहता है। अध्यास
को नष्ट करने के लिये स्वरूप को जानना आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं कि अज्ञानी भी प्राज्ञ के व्यवहार
रहित लक्षण को जानता है, लेकिन अपने जाग्रत् और स्वप्न के व्यवहार का उसमें अध्यास करता है। अर्थात्
व्यवहार के अपने को छोड़ने पर भी वह व्यवहार को नहीं छोड़ता है। इसका अनुवाद करके शास्त्र भी
उसका ज्ञातृत्वादि बताता है। ‘तेन एव हि अहंकर्त्रा अहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रियाः निर्वर्त्यन्ते,
तत्फलं च स एव अश्नाति’-अहंप्रत्यय के विषय प्रत्ययी अहंकर्ता से सब क्रियाएँ की जाती हैं और
उनका फल वही भोगता है (सू.भा. १.१.४)। यहाँ अनृतत्व, जड़त्व, परिच्छिन्नत्व और उनके आधार पर
होने वाले व्यवहार जगत् के धर्म हैं और जगत् धर्मी है। ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व प्रत्यगात्मा के धर्म हैं और
प्राज्ञ धर्मी है। यहाँ धर्म-धर्मी को अग्नि-उष्णवत् अभेदार्थ में नहीं लेना है बल्कि, ‘कार्यस्य कारणात्मत्वं
न तु कारणस्य कार्यात्मत्वं-कार्य कारण से अनन्य है लेकिन कारण कार्य से अन्य ही है’ (सू.भा.२.१.
९) इस अर्थ में लेना है। अर्थात्, धर्मी को छोड़कर धर्म का अस्तित्व नहीं है परन्तु धर्मी का अस्तित्व धर्म
को छोड़कर भी है। उपाधि के द्वारा ही धर्म धर्मी में दिखायी देता है; निरुपाधिक धर्मी में धर्म नहीं होता।
चाहे जगत् हो चाहे प्रत्यगात्मा, उपाधि द्वारा ही व्यवहारवान् होते हैं; निरुपाधिक रूप से वे सब व्यवहाररहित
ही हैं। जगद्व्यवहार के लिये विकार उपाधि है, निरुपाधिक रूप से वह अव्यवहार्य आत्मा ही है।
प्रत्यगात्मा के व्यवहार के लिये कारण उपाधि हैं; कारणरहित स्वरूप में वह भी अव्यवहार्य आत्मा ही है।
निरुपाधिक स्वरूप को न जानकर उसे केवल सोपाधिक ही समझने के कारण, सत्य और अनृतों का
मिथुनीकरण करके ‘मैं मेरे’ का अध्यास होता है।

(८.२) इस कंडिका में ‘सत्य’ क्या है? न बदलने वाला। ‘यद् रूपेण यन् निश्चितं तद् रूपं न

व्यभिचरति तत् सत्यम्—जिस रूप में एक काल में ज्ञात होकर सदा सर्वकाल उसी रूप में रहता है, वह सत्य है। और 'अनृत' क्या है? जो बदलता है—**यद् रूपेण यन् निश्चितं यत् तद् रूपं व्यभिचरत् अनृतम् इति उच्यते**—जिस रूप में एक बार ज्ञात होकर जो बाद में उस रूप को छोड़ देता है, वह अनृत है (तै.भा. २. १.१)।

यहाँ पर प्राज्ञ का सत्यत्व और जगत् का अनृतत्व सुप्रसिद्ध है। जो कोई सत्य, अनृत इन शब्दों का अर्थ जानता है वह इसका निराकरण नहीं कर सकता क्योंकि प्राज्ञ में अनृतत्व का हेतु कोई विकार नहीं है।

(८.३) प्रश्न: प्राज्ञ को सत्य कैसे कहा? सुषुप्ति में जो प्राज्ञ होता है, स्वप्न में वही अन्तःप्राज्ञ और जाग्रत् में बहिष्प्राज्ञ होता है; अर्थात् बदलता रहता है। इतना ही नहीं, एक ही समय में अलग-अलग जीव अलग-अलग अवस्थाओं में होते हैं—कोई सुषुप्ति में और कोई जाग्रत् में तो कोई स्वप्न में होता है। इन दोनों कारणों से प्राज्ञ अनृत ही हुआ न?

उत्तर: ऐसा नहीं है। प्राज्ञ सदा प्राज्ञ ही है। वह मन की उपाधि से अन्तःप्राज्ञ और मन-शरीर उपाधियों से बहिष्प्राज्ञ बनता है। परन्तु अलग-अलग उपाधि द्वारा अलग-अलग रूप में दिखने पर भी करणव्यवहार के अनुसार उसका स्वरूप नहीं बदलता। किसी पुरुष के करछी की उपाधि द्वारा रसोइये के रूप में दिख पड़ने पर भी कोई यह नहीं कहता कि 'बिना करछी यह रसोइया नहीं है'। और तो और, शरीर के भेद से भी प्राज्ञ में भेद नहीं है। शरीर के अनुसार बहिष्प्राज्ञ के अनुभवों में तो भेद होता है। जाग्रत् में एक का अनुभव दूसरा बिना पूछे नहीं जान सकता है। जानने के लिये पूछना ही पड़ता है; अर्थात् बहिष्प्राज्ञ में नानात्व है। उसी प्रकार, अन्तःप्राज्ञ के अनुभव में भी भेद होता है। एक का स्वप्नानुभव दूसरा बिना पूछे नहीं जान सकता है, जानने के लिये पूछना ही पड़ता है। लेकिन प्राज्ञ में ऐसा नहीं है। एक की सुषुप्ति का अनुभव दूसरा बिना पूछे ही जान लेता है। इसलिये, सांख्यों के पुरुष के समान प्राज्ञ में नानात्व नहीं है, एकत्व ही है। वह अविभक्त होने पर भी (देहादि संबंध से) विभक्त सा स्थित है—**अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्** (गी. १३.१६) इसलिये प्राज्ञ सत्य है।

(८.४) भिन्न होने पर भी लोग सत्य प्राज्ञ और अनृत शरीर का मिथुनीकरण करके 'मैं पुरुष हूँ—मैं स्त्री हूँ' इत्यादि और 'वह मेरा मित्र है—वह मेरा शत्रु है' इस प्रकार गलत पहचान के अनुसार ही कर्म करते हैं। यह लोकप्रसिद्ध है। सत्य और अनृत का यह मिथुनीकरण ही अध्यास है। इसके आधार पर होने वाला व्यवहार नैसर्गिक यानी कि स्वाभाविक है; अर्थात् किसी के सिखाये बिना ही होता है।

९. आह। कोऽयमध्यासो नाम इति? उच्यते। स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।

९. पूछते हैं कि 'यह अध्यास क्या है?' इस पर कहते हैं—पूर्वदृष्ट का स्मृतिरूप दूसरे में जो अवभास है (वही)।

(१.१) यह वाक्य अध्यास का लक्षण बताता है। शुक्ति-रजत दृष्टान्त में रजत पूर्वदृष्ट है अर्थात् पहले देखी हुयी वस्तु है। रास्ते में जब शुक्ति दिखायी देती है तो उसी क्षण 'यह कुछ है' इस प्रकार सामान्य ज्ञान होने के साथ-साथ उसका चमकीलापन मन में रजत की स्मृति भी लाता है। तब शुक्ति का परीक्षण किये बिना ही उसे रजत समझ लेते हैं। यह मिथ्याज्ञान ही अध्यास है। जो पूर्वदृष्ट नहीं है वह स्मृतिरूप में नहीं आ सकता, और जो स्मृतिरूप में नहीं आ सकता वह अध्यस्त नहीं हो सकता। अर्थात्, अध्यास के लिये अध्यस्त का पूर्वदृष्ट होना आवश्यक है। इतना ही नहीं, रजत पूर्वदृष्ट नहीं हो तो यह निश्चय भी नहीं हो सकता कि 'रजत अध्यस्त था'। उसी प्रकार अधिष्ठान का भी पूर्वदृष्ट होना आवश्यक है, अन्यथा शुक्ति के परीक्षण के बाद यही ज्ञान होगा कि 'यह कुछ है'; परन्तु यह नहीं ज्ञात होगा कि शुक्ति में ही रजत का अध्यास हुआ था।

(१.२) स्मृति में पूर्वदृष्टवस्तु बुद्धिप्रत्ययरूपमात्र होती है असल में सामने नहीं होती। स्मृतिरूप का अर्थ है स्मृतिमात्र में दिख पड़नेवाला पूर्वदृष्टवस्तु का रूप। स्मृतिरूप के अनुगुण जब पूर्वदृष्टवस्तु प्रत्यक्ष दिखती है तब 'यह वही है' यह ज्ञान 'प्रत्यभिज्ञा' कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञा दो प्रकार की होती है—'व्यक्ति प्रत्यभिज्ञा' और 'जातिप्रत्यभिज्ञा'। पहले देखी हुयी कालाक्षी नाम की गाय का जब फिर एक बार दर्शन होता है, तब उत्पन्न होने वाला ज्ञान कि 'यह वही कालाक्षी है' व्यक्तिप्रत्यभिज्ञा है। उसी मनुष्य को जब स्वस्तिमती नाम की गाय दिखायी देती है तब जो ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'यह भी गाय है' वह जाति प्रत्यभिज्ञा है। यहाँ कालाक्षी पूर्वदृष्ट है और स्वस्तिमति परत्र-अलग गाय है; इसलिये, स्वस्तिमति को कालाक्षी समझना मिथ्याज्ञान होता। लेकिन कालाक्षी जैसी एक और दूसरी गाय समझना मिथ्याज्ञान नहीं है सम्यग्ज्ञान ही है, क्योंकि इस ज्ञान की विषय कालाक्षी गो व्यक्ति नहीं है परन्तु गोत्व है। यहाँ कालाक्षी में देखा गया गोत्व ही स्वस्तिमति में भी पहचाना गया है। यह अध्यास नहीं है, यथार्थ ज्ञान ही है। इस प्रकार, प्रत्यभिज्ञा पूर्वदृष्टवस्तु का यथार्थ ज्ञान है तो अध्यास पूर्वदृष्टवस्तु का अयथार्थ ज्ञान है। इसीलिये, अध्यास को अवभास कहा है। अवभास का अर्थ है परीक्षण के बाद निराकृत होने वाला ज्ञान।

(१.३) प्रश्न: छोटे बच्चे को भी जातिप्रत्यभिज्ञा रहती है। जब माँ बच्चे का एक गाय से परिचय कराती है तो बच्चा बिलकुल अलग दिखने वाली एक दूसरी गाय को भी 'गाय' ऐसे पहचानता है। सिर्फ एक गो व्यक्ति के आधार पर बच्चा गो जाति (गोत्व) को कैसे समझ सकता है?

उत्तर: ठीक है, छोटे बच्चे को भी जातिप्रत्यभिज्ञा रहती है। यह पूर्वजन्म की वासनाओं के कारण होता है। बृहदारण्यकश्रुति इसे पूर्वप्रज्ञा कहती है (बृ. ४. ४. २)।

(१.४) इस जन्म में मिलने वाला शरीर पूर्वदृष्ट नहीं है; इसलिये इस नये शरीर में 'यह मैं हूँ' अध्यास कैसे हो सकता है? देहाध्यास तो सादि ही होता है न?

उत्तर: हां । प्रस्तुत शरीर में अध्यास नया ही होता है; अर्थात्, देहाध्यास सादि ही है, अनादि नहीं । लेकिन देहाध्यास वासना अनादि है, क्योंकि यह वासना बुद्धि में रहती है और यह बुद्धिसम्बन्ध अनादि है । **‘अयम् अपि बुद्धिसम्बन्धः शक्त्यात्मना विद्यमान एव सुषुप्तप्रलययोः पुनः प्रबोध प्रसवयोः आविर्भवति । एवं हि एतत् युज्यते, नहि आकस्मिकी कस्यचित् उत्पत्तिः संभवति’**—सुषुप्ति और प्रलय में शक्तिस्वरूप से वर्तमान यह बुद्धिसम्बन्ध ही पुनः प्रबोध और प्रसव में आविर्भूत होता है । (यह इस प्रकार ही युक्त है क्योंकि) किसी की आकस्मिक उत्पत्ति नहीं हो सकती है (सू.भा.२.३.३१) ।

बच्चों में बुद्धिसम्बन्ध का अध्यास होने पर भी नये शरीर का अध्यास नहीं होता । इसको इस प्रकार समझ सकते हैं—मां द्वारा पीटे जाने पर भी बच्चा अपने को अपमानित नहीं अनुभव करता, पहले सा ही प्रेम व्यवहार करता है । कपड़े पहनना, अपने को अलंकृत करना—ऐसी सोच उसमें नहीं आती है । उसमें स्त्रीपुरुष भेद और काम नहीं होता है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बच्चों में देहाध्यास नहीं होता । इसलिये, श्रुति भी ज्ञानी को **‘बाल्येन तिष्ठासेत्’**—बाल्यभाव में रहे (बृ.३.५.१), यह उपदेश देती है ।

अब आगे यह प्रश्न है कि नये शरीर में देहाध्यास उत्पन्न कैसे होता है? जब शरीर को चोट लगती है तो बुद्धि इसको समझती है । बुद्धि में इसका परिणाम दर्द होना प्रकृति का कार्य है । **‘इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः एतत् क्षेत्रम्’**—इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूलदेह, चेतना और धृति ये क्षेत्र हैं (गीता १३.६) । बच्चे में बुद्धिसम्बन्ध अनादि होने से वह यह समझता है कि बुद्धिवेद्य दर्द अपने को ही हो रहा है । इस प्रकार देह के द्वारा आनेवाला दर्द बार-बार होने के कारण देहाध्यास उत्पन्न होता है । जब यह अध्यास दृढ़ हो जाता है तो किसी एक अंग का नाश होने के बाद भी लगभग एक वर्ष तक अंगाध्यास रहता है । उदाहरण के लिये, विषपूरित घाव से जब पैर गलने लगता है और बाकी शरीरको बचाने के लिये वैद्य पैर को काट देता है, तो भी लगभग एक वर्ष तक पैर में खुजली और दर्द का आभास होता रहता है । पैर के अभाव का अनुभव दृढ़ होते-होते ही दर्द का अनुभव भी समाप्त होता है । इस प्रकार के देहाध्यास के आधार पर ही शास्त्र मृत के प्रेतकर्म का विधान करता है ।

(१.५) प्रश्न: सुषुप्ति में जिस बुद्धिसम्बन्ध को हम छोड़ देते हैं वह जागते ही फिर वापिस कैसे लौट आता है?

उत्तर: सुषुप्तिकाल में बुद्धि नाड़ियों में विश्राम करती है, इसलिये जीव ज्ञानक्रिया में नहीं लग सकता । सुषुप्ति में जीव ज्ञातृत्व को बचा रखके ही ईश्वर में लीन होता है । अर्थात् उस समय भी अध्यास रहित अविद्या रहती ही है । इसी चिह्न का अनुसरण करके ईश्वर सुषुप्ति से उठने पर जीव का फिर उसी बुद्धि से सम्बन्ध करा देता है (सू.भा. ३.२.८) ।

(१.६) प्रश्न: लेकिन प्रलय में तो सारे विकार नष्ट हो जाते हैं और एक ईश्वर ही बच जाता है, फिर अगली सृष्टि में जीव को उसी बुद्धि से सम्बन्ध कैसे प्राप्त होगा?

उत्तर: 'सूर्य चन्द्र रूपी जगत् की जैसे पहले सृष्टि थी, उसी प्रकार ईश्वर से फिर होती है-*सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्*' (ऋ.सं. १०.१९०.३)। सर्वज्ञ, सर्वशक्त ईश्वर त्रिवृत्कृतभूतों की सृष्टि के साथ-साथ ही बुद्धि आदि शरीरपर्यन्त विकारों की सृष्टि करता है तथा उनका अपने-अपने जीवों से सम्बन्ध करा देता है।

उपर्युक्त विश्लेषण में नये शरीर में अध्यास की उत्पत्ति का क्रम बताया गया। अब अध्यास की व्याख्या अलग-अलग लोग किस प्रकार करते हैं इसकी विमर्शा होनी है। ये तीन हैं-अन्यथा ख्याति, अख्याति और असत् ख्याति।

१०. तं केचित् अन्यत्र अन्यधर्माध्यास इति वदन्ति।

१०. कुछ लोग एक में दूसरे के धर्म के आरोप को अध्यास कहते हैं।

(१०.१) **अन्यथाख्याति:** यह नैयायिकों और भाट्टों द्वारा प्रतिपादित ख्याति है। इनके अनुसार शुक्ति में होने वाले रजत का अध्यास इस प्रकार है:-शुक्ति को देखते ही हमें उसका सामान्यज्ञान होता है; अर्थात् ज्ञान कि 'यह कुछ है'। उस समय हमें 'यह शुक्ति है' इस तरह का विशेषज्ञान नहीं होता। चमकने में शुक्ति का रजत से सादृश्य रहता है; इसलिये हमें पूर्वदृष्ट रजत की स्मृति होती है, क्योंकि सादृश्य को देखते ही स्मृतिरूप में वस्तु को खड़ा कर देना मन का स्वभाव है। तब अवश्य यह रजत ही है ऐसा लगता है। उस समय हम शुक्ति को रजत समझने की गलती करते हैं। शुक्ति की परीक्षा के बाद ही हमें समझ आता है कि 'यह रजत नहीं शुक्ति है'। तब हम यह जान जाते हैं कि इस सम्यग्ज्ञान से पहले जो हमने रजत देखा था वह असत् है। यहाँ पर 'असत्' का अर्थ यह नहीं है कि 'रजत नाम की वस्तु कहीं भी नहीं है'; उसका अर्थ इतना ही है कि 'शुक्ति में रजत नहीं है'। अगर रजत कहीं भी नहीं होता तो पूर्वदृष्ट नहीं हो सकता था, और यदि पूर्वदृष्ट न होता तो स्मृतिरूप में नहीं आ सकता था और परिणामस्वरूप अध्यास भी नहीं हो सकता था।

११. केचित्तु यत्र यदध्यासः तद् विवेक-अग्रहनिबंधनो भ्रमः इति।

११. कुछ लोग कहते हैं कि जिसमें जिसका अध्यास है उनका भेद न समझने के कारण होने वाला भ्रम अध्यास है।

(११.१) **अख्याति:** यह प्राभाकरों एवं सांख्यों द्वारा प्रतिपादित ख्याति है। अन्यथाख्याति के समान यहाँ भी दो ज्ञान हैं-अधिष्ठान शुक्ति का सामान्यज्ञान और सादृश्य के कारण रजत का स्मृतिज्ञान। दोनों ही ठीक हैं। लेकिन इन दोनों को अलग करने का विवेक न होने के कारण भ्रम पैदा होता है कि 'यह रजत है'। यह भ्रम ही अध्यास है। अर्थात्, शुक्ति को रजतसदृश देखना गलत नहीं है, परन्तु शुक्ति से उसको अलग न करके शुक्ति को रजत ही समझना गलत है।

प्रश्न: अपूर्वदृष्ट होने के कारण पीतशंख का स्मृतिरूप ज्ञान न होने पर भी कुछ लोगों को श्वेतशंख पीतवर्ण दिखता है। यह कैसे हो सकता है?

उत्तर: जिसको पीलिया का रोग है वही श्वेतशंख को पीत देखता है। यहाँ पर भी दो ज्ञान हैं। पहला, पीलिया के कारण श्वेतवर्ण को न पहचानकर होने वाला शंखज्ञान; और दूसरा, पीलिया के कारण होने वाला पीतवर्णज्ञान। दोनों में भेद करने का सामर्थ्य न होने से ही श्वेतशंख में पीतवर्ण का अध्यास होता है। उसका यह अज्ञान कि उसे पीलिया है ही यहाँ दोष है। जब उसे यह पता पड़ता है कि उसे पीलिया है तो उसे यह यथार्थज्ञान होता है कि 'यह तो एक श्वेतशंख है, जो केवल मुझे (और किसी को नहीं) पीत नजर आ रहा है'।

१२. अन्ये तु यत्र यदध्यासः तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनाम् आचक्षते।

१२. कुछ लोग जिसमें जिसका अध्यास है उसमें विरुद्ध धर्मवाले के भाव की कल्पना को अध्यास कहते हैं।

(१२.१) असत्ख्यातिः शुक्ति के सामान्यज्ञान के आधार पर, शुक्तिसदृश रजत स्मृतिरूप में आने से, शुक्ति में न रहने वाले रजतधर्म की शुक्ति में कल्पना करना अध्यास है। इसको धर्माध्यास कहते हैं। शुक्ति को ही रजत समझना धर्मा-अध्यास है। कुछ लोग इसको बौद्धों की असत्ख्याति कहकर इसका निराकरण करते हैं; क्योंकि वस्तु वास्तव में न रहने पर भी संस्कार के कारण दिखायी देती है। परन्तु यह मत विज्ञानवादी बौद्धों का है। यहाँ जब रजत को असत् कहा तो उसका अर्थ 'शशविषाण के समान कहीं भी न रहनेवाला' किया तो वह विज्ञानवादियों का मत हो सकता है। परन्तु 'शुक्ति में न रहनेवाला' इतना मात्र ही अर्थ किया तो यह अस्वीकार्य नहीं होगा। यदि यह स्वीकार्य न होता तो भगवान् भाष्यकार इसका उल्लेख न करते। इसलिये, भाष्यकार के अभिप्रायानुसार असत् शब्द का अर्थ 'यहाँ न रहने वाला' करके इसको मिथ्याख्याति कह सकते हैं। यह कह सकने के लिये भाष्यसम्मति इस प्रकार है—

'शुक्तिकां रजतम् इति प्रत्येति इति अत्र शुक्तिवचन एव शुक्तिकाशब्दः रजतशब्दः तु रजतप्रतीतिलक्षणार्थः प्रत्येति एव हि केवलं रजतम् इति, न तु तत्र रजतम् अस्ति'— 'शुक्ति को रजत समझता है' इसमें शुक्ति शब्द तो शुक्तिवाचक ही है लेकिन रजत शब्द का अर्थ है रजत की प्रतीति, क्योंकि यह रजत है ऐसी केवल प्रतीति ही होती है असल में वहाँ रजत नहीं है (सू.भा. ४.१.५)।

१३. सर्वथापि तु अन्यस्य अन्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति।

१३. तदपि सभी मतों में 'अन्य में अन्य के धर्म की प्रतीति' इस लक्षण का व्यभिचार नहीं है।

(१३.१) अब कहते हैं कि इन तीनों ख्यातियों का स्वरूप समान ही है—मिथ्याज्ञान जिस प्रकार

उत्पन्न होता है उसके क्रम के निरूपण में अन्तर होने पर भी 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' इस अध्यासलक्षण का और 'अन्यस्य अन्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति' इस अध्यासस्वरूप का, कोई भी व्याख्या उल्लंघन नहीं करती।

१४. तथा च लोके अनुभवः "शुक्तिका हि रजतवत् अवभासते", "एकश्चन्द्रः सद्द्वितीयवत्" इति।

१४. इसी प्रकार लोकव्यवहार में भी यही अनुभव है कि शुक्ति ही रजत के समान अवभासित होती है, जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा और एक के साथ मालूम पड़ता है।

(१४.१) भाष्यकार द्वारा अध्यास के लिये दिये गये ये दो उदाहरण हैं। दोनों में ही स्मरणयोग्य बात यह है कि इनका निरूपण अधिष्ठान के सम्यग्ज्ञान के द्वारा आरोपित धर्म के निराकरण होने के बाद ही किया गया है। शुक्ति की परीक्षा से 'यह रजत नहीं है, शुक्ति है' इतना समझने के बाद भी शुक्ति रजत जैसी ही दिखती रहती है। इसलिये, 'रजत जैसी दिखने वाली शुक्ति'; यह ज्ञान यथार्थज्ञान ही है, अयथार्थ ज्ञान नहीं क्योंकि शुक्ति का ज्ञान स्मृतिरूप रजत को शुक्ति से अलग कर देता है। 'शुक्तिका हि रजतवत्', 'एकः चन्द्रः सद्द्वितीयवत्' इनमें वत् (सा), अधिष्ठान के सम्यग्ज्ञान द्वारा निराकृत होने वाले अयथार्थज्ञान को ही बतलाता है।

(१४.२) इन दो दृष्टान्तों का अलग-अलग प्रयोजन या स्थान क्या है, यह समझने के लिये पूर्वकथित दोनों प्रकारों के अध्यासों की ओर देखना है। इसीलिये भाष्यकार ने भी 'तद्विपर्ययेण' इस पद का प्रयोग एक बार आरंभ में करके फिर अन्त में दुबारा किया है। पहले अध्यास का कारण है प्रत्यगात्मस्वरूप का अज्ञान। शुद्ध तुरीयात्मा ही प्रत्यगात्मा का स्वरूप है; इस सम्यग्ज्ञान से वह अविकारी तुरीयात्मा, शरीरादि उपाधियों के साथ रहते समय व्यवहार से युक्त दिखने पर भी, उनसे असम्बन्धित अव्यवहार्य ही है, यह समझ में आ जाता है। इसके दृढीकरण के लिये ही शुक्ति-रजत दृष्टान्त है। जिस प्रकार रजत सा दिखायी देने पर भी यह शुक्ति ही है यह सम्यग्ज्ञान है, उसी प्रकार 'क्षेत्रधर्म के साथ दिखायी देने पर भी क्षेत्रज्ञ क्षेत्र से भिन्न तुरीय ही है' यह समझना ही सम्यग्ज्ञान है।

दूसरे अध्यास का कारण है जगत्स्वरूप का अज्ञान। क्षेत्रों के द्वारा पुत्रभार्यादि के रूप में हो अथवा सामान्यतः विकारों के द्वारा हो, जगत् में नाना दिखायी देने पर भी जगत् स्वरूपतः अविकार्य तुरीयात्मा है। 'एतै प्राणादिभिः आत्मनः अपृथग्भूतैः अपृथग्भावैः एषः आत्मा रज्जुरिव सर्पादि विकल्पनारूपैः पृथगेवेति लक्षितः मूढैः इत्यर्थः । विवेकिनां तु रज्ज्वामिव कल्पिताः सर्पादयो नात्मव्यतिरेकेण प्राणादयः सन्ति'-रज्जु में कल्पित सर्पादि भावों से रज्जु के समान यह आत्मा अपने से अपृथग्भूत प्राणादि अपृथग्भावों से पृथक् ही है-ऐसा मूर्खों को लक्षित-अभिलक्षित अर्थात् निश्चित हो रहा है।

विवेकियों की दृष्टि में तो रज्जु में कल्पित सर्पादि के समान ये प्राणादि आत्मा से भिन्न हैं ही नहीं (मां. का.भा. २.३०)। जो इसको जानता है वह क्षेत्रों के द्वारा पुत्रभार्यादिरूप में नानात्व देखने पर भी अपनी बुद्धि से नानात्व का प्रविलय करके सब में अद्वितीय आत्मा को ही समझता है। यही सर्वात्मभाव है और इसके दृढीकरण के लिये ही द्विचन्द्रदृष्टान्त है **‘एकस्मिन् चन्द्रे तिमिरकृत-अनेकचन्द्रप्रपंचवत् अविद्याकृतो ब्रह्मणि नामरूपप्रपंचः विद्यया प्रविलापयितव्यः’**—एक चन्द्र में नेत्रदोष से किये गये अनेक चन्द्रों के प्रपंच के समान ब्रह्म में अविद्याकृत नामरूप प्रपंच का विद्या से प्रविलय करना (सू.भा. ३.२.२१)। जिसकी आंखों में मोतियाबिन्द है वही चन्द्र को सद्वितीय देखता है। जिसमें यह दोष नहीं है वह अद्वितीय चन्द्र को ही देखता है। इसी प्रकार, जिसमें अविद्या है वह विकारों के द्वारा जगत् में नानात्व को देखता है; परन्तु जो विद्वान् नानात्व का प्रविलय कर चुका है, वह एकत्व को ही समझता है क्योंकि **‘कार्याकारोऽपि कारणस्य आत्मभूत एव’**—कार्य का आकार भी स्वरूपतः कारण ही है (सू.भा.२.१.१८)। जगत् कार्य है और आत्मा ही उसका कारण है। इसलिये, ज्ञानी जगत् में अद्वितीय स्वयं को ही देखता है।

(१४.३) इस प्रकार शारीरक अर्थात् जीव मीमांसा का प्रयोजन आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्ति ही है। अर्थात् एक ही आत्मा, अपरा और परा प्रकृतियों द्वारा कार्यदृष्टि में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ इन दो रूपों में दिखने पर भी, परमार्थदृष्टि में वह कूटस्थ, नित्य, व्योमवत् सर्वव्यापी, सर्वविक्रियारहित, नित्यतृप्त, निरवयव, स्वयंज्योति ही है। वह स्वयं ही यह है—यह सम्यग्ज्ञान प्राप्ति ही आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्ति है।

(१४.४) अनिर्वचनीय ख्याति

कुछ लोगों द्वारा प्रतिपादित यह एक अन्य ख्याति है। उनका चिन्तन इस प्रकार है:—किसी को शुक्ति में रजत दिखायी देता है। यदि वहाँ रजत होता ही नहीं तो उसका दिख पड़ना असाध्य होता क्योंकि वस्तु न रहने पर भी दिखायी देती है यह सिद्धान्त तो विज्ञानवादी बौद्धों का है। यही नहीं, दिखायी देने वाले उस रजत को पकड़कर उठाने के लिये मानव प्रयत्न भी करता है। अतः, वहाँ रजत होना ही चाहिये। परन्तु शुक्तिपरीक्षण से यह ज्ञान भी होता है कि वहाँ रजत नहीं है। इसलिये, वहाँ एक विशिष्ट रजत है जिसका ‘है’ या ‘नहीं है’ इस प्रकार स्पष्ट निर्वचन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार, दार्ष्टान्त में भी प्रत्यगात्मा में अध्यस्त जगत् सदसद्भ्यामनिर्वचनीय लक्षण वाला है। इनके अनुसार जगत् का स्वभाव यही है।

उपर्युक्त सिद्धान्त भाष्यसम्मत नहीं है, क्योंकि पिछली कण्डिका में **‘प्रत्येति एव हि केवलं रजतम् इति न तु तत्र रजतम् अस्ति’**—केवल रजत की प्रतीति ही होती है, वहाँ रजत है नहीं कहकर, शुक्ति में दिखायी देने वाला रजत सुतरां असत् है, रजत का ज्ञान मिथ्याज्ञान है, इतना भाष्यकार ने स्पष्ट किया है। इसलिये, उस रजत का स्पष्ट निर्वचन है ‘शुक्ति में न रहनेवाला रजत’। इस भाष्यनिर्वचन के बाद ‘मिथ्या रजत-है या नहीं है—इस प्रकार जिसका निर्वचन नहीं हो सकता ऐसा एक विशिष्ट रजत है’, इस प्रकार की कल्पना भाष्यसम्मत कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती है। इस प्रकार है अथवा इस प्रकार नहीं है, या है

अथवा नहीं है, ये विकल्प वस्तु के बारे में नहीं किये जा सकते हैं क्योंकि विकल्प पुरुष की बुद्धि की अपेक्षा से होते हैं। किसी भी वस्तु का यथार्थज्ञान पुरुष की बुद्धि की अपेक्षा नहीं रखता। वह (वस्तु का यथार्थज्ञान) तो वस्तु के ही अधीन है। एक स्थाणु में 'यह स्थाणु है, पुरुष है अथवा अन्य कोई है' यह ज्ञान यथार्थज्ञान नहीं है। वहाँ पुरुष है अथवा और कुछ है यह मिथ्याज्ञान है। स्थाणु ही है यह यथार्थज्ञान है क्योंकि वह वस्तु के अधीन है- 'न तु वस्तु एवं नैवम्, अस्ति नास्ति इति वा विकल्प्यते। विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः। न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्। किं तर्हि? वस्तुतन्त्रम् एव तत्। नहि स्थाणौ एकस्मिन् स्थाणुर्वा पुरुषो वा अन्यो वा इति तत्त्वज्ञानं भवति। तत्र पुरुषः अन्यो वा इति मिथ्याज्ञानम्। स्थाणुरेव इति तत्त्वज्ञानम् वस्तुतन्त्रत्वात्' (सू. भा. १.१.२)। जीवादि पदार्थों में, एक ही धर्मी में सत्त्व और असत्त्व इन विरुद्ध धर्मों का सम्भव न होने से सत्त्वरूप एक धर्म में अन्य धर्म असत्त्व का सम्भव न होने से और असत्त्व में सत्त्व का सम्भव न होने से भी यह आर्हत मत असंगत है- 'जीवादिषु पदार्थेषु एकस्मिन् धर्मिणि सत्त्वासत्त्वयोः विरुद्धयोः धर्मयोः असंभवात्, सत्त्वे च एकस्मिन् धर्मे असत्त्वस्य धर्मान्तरस्य असंभवात्, असत्त्वे च एवं सत्त्वस्य असंभवात् असंगतमिदं अर्हतमतम्' (सू. भा. २.२.३३)। इसी कारण से अनिर्वचनीय ख्याति भी असंगत है।

इसलिये, सदसद्भ्यामनिर्वचनीयत्व सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान के मिथुन से जन्म ली हुयी अर्थरहितकल्पना ही है, रहने वाली वस्तु का तत्त्वज्ञान नहीं। शुक्ति में देखा हुआ रजत अस्ति भी न होकर, नास्ति भी न होकर कोई तीसरा रजत ही है तो उसका निश्चय सातवें प्रमाण से ही होगा। यदि वह भूतवस्तु है तो उसका होना प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति या आगम प्रमाण में से किसी एक के द्वारा ही निश्चित होता है, क्योंकि जब वह इनमें से किसी एक का भी विषय नहीं होता तभी उस वस्तु का अभाव होता है- 'उपलब्धि लक्षण प्राप्तस्य अनुपलब्धेः अभावो वसत्त्वन्तरस्य' (सू. भा. २.२.१७)। कुछ लोग अभाव को भी विषयरूप से स्वीकार करके उसके ज्ञान के लिये एक और अनुपलब्धि प्रमाण को कहते हैं। यदि यह स्वीकार करते हैं तो भावसंभव के लिये पांच प्रमाण और अभावसंभव के लिये एक प्रमाण हो जाते हैं, अर्थात् कुल छह प्रमाण हो जाते हैं। परन्तु अनिर्वचनीय रजत तो दोनों से ही भिन्न है, इसलिये, उसका संभव होना तो और एक सातवें प्रमाण से ही निश्चित होगा। परन्तु कल्पितवस्तुसंभव के लिये और एक प्रमाण को ढूँढना असाधु है:- 'न अयं साधुः अध्यवसायः यतः प्रमाणप्रवृत्ति-अप्रवृत्तिपूर्वकौ संभवासंभवौ अवधार्येते न पुनः संभवासंभवपूर्विके प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्ती'- यह निश्चय साधु नहीं है क्योंकि प्रमाण की प्रवृत्ति से संभव का और प्रमाण की अप्रवृत्ति से असम्भव का निश्चय किया जाता है। संभव और असंभव से प्रमाण की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति का निश्चय नहीं किया जाता (सू. भा. २.२.२८)।

वे कहेंगे कि सातवां प्रमाण नहीं चाहिये क्योंकि सदसद्भ्यामनिर्वचनीय वस्तु के अस्तित्व का निश्चय प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति, आगम इन चारों प्रमाणों से होता है। यह गलत है क्योंकि केवल 'अस्ति'

निर्वचन को मिलने वाली वस्तुओं के लिये ही ये प्रमाण होते हैं। अस्ति, नास्ति निर्वाचित न होने वाली वस्तुओं के लिये भी ये चारों प्रमाण होंगे तो इन प्रमाणों में कौन विश्वास रखेगा? इतना ही नहीं, एक प्रमाण से वस्तु का संभव सिद्ध होने के बाद उसके संभव के लिये और एक प्रमाण कोई नहीं चाहता। परन्तु उसके संभव के लिये आपका चार प्रमाणों को बताना सिद्ध करता है कि आपको ही इसके अस्तित्व के बारे में संशय है।

उनके लिये और एक प्रश्न है: प्रत्यगात्मा में अध्यस्त जगत् को यदि सदसद्भ्यामनिर्वचनीय कह रहे हैं तो फिर तद्विपर्यय रूप से जगत् में अध्यस्त प्रत्यगात्मा भी क्या सदसद्भ्यामनिर्वचनीय है? क्या प्रत्यगात्मा है या नहीं है ऐसा न कह सकने वाला है? यह कल्पना अत्यन्त अनादरणीय है।

आक्षेप: यह प्रसिद्ध है कि जगत् तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीय है (सू.भा. १.१.५, १.४.३, २.१.१४, २.१.२७)। यहाँ तत् ही सत् और अन्यत् ही असत् है। इसलिये यदि हम कहें कि हम नया कुछ भी नहीं कह रहे हैं तो?

परिहार: भाष्यकार द्वारा कथित तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयत्व का आपके द्वारा प्रतिपादित सदसद्भ्यामनिर्वचनीयत्व से कुछ भी संबन्ध नहीं है। वह पूरा का पूरा अलग है। भाष्यकार के कार्य-कारण अनन्यत्व में तत् उपादान कारण है और अन्यत् उसका कार्य है। अनन्यत्व इनका सम्बन्ध है- '**कार्यस्य कारणात्मत्वं न तु कारणस्य कार्यात्मत्वं**'-कार्य कारणात्मक है परन्तु कारण कार्यात्मक नहीं है (सू.भा. २.१.९)। यह कार्य शुक्ति में देखे गये रजत के समान असत् नहीं बल्कि अनृत है; अर्थात् बदलने वाला है, व्यवहारयोग्य है और रूप बदलते रहने पर भी अपने सत्य कारण से अनन्य है। इसीलिये, एक ही समय में कार्य के विषय में दो दृष्टि रहती हैं, कारणदृष्टि और कार्यदृष्टि। एक ही घट कारणदृष्टि से सत्य (न बदलने वाली) मिट्टी है और कार्यदृष्टि से अनृत (बदलनेवाला) घट है। इसलिये, कार्यघट को भाष्यकार ने तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीय कहा है अर्थात्, '**तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्य अशक्यत्व**' है। परन्तु शुक्ति और उसमें दिखने वाले रजत में कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है; अर्थात्, यह रजत अलग-अलग आभूषणों के रूप में खड़ा नहीं हो सकता, तात्पर्य यह है कि वह व्यवहारयोग्य नहीं है। '**कार्यं त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति**' कार्य का तीनों कालों में कभी भी सत्ता से व्यभिचार नहीं होता (सू.भा.२.१.१६)। परन्तु, शुक्ति में दिखने वाला रजत तो कभी भी नहीं है; जब दिखते समय भी नहीं है तब वह और कब हो सकता है?

१५. कथं पुनः प्रत्यगात्मनि अविषये अध्यासो विषय तद्धर्माणाम्? सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यस्यति। युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनि अविषयत्वं ब्रवीषि।

१५. अविषय प्रत्यगात्मा में विषय का और विषय के धर्म का अध्यास कैसे हो सकता है? सब लोग पुरोवर्ती विषय में ही अन्य विषय का अध्यास करते हैं। 'तुम' इस प्रत्यय के अयोग्य प्रत्यगात्मा अविषय है ऐसा कहते हो।

(१५.१) ऊपर अध्यास के लक्षण बतलाकर, फिर दो दृष्टान्तों के द्वारा 'अन्यत्र अन्यधर्माध्यासः' कह कर अध्यास का स्वरूप भी समझाया गया। लेकिन, दार्ष्टान्त में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के अध्यास में इनका अन्वय करने पर दो आक्षेप उठ सकते हैं:-

शुक्ति आदि में होनेवाले रजत आदि अध्यासों में शुक्ति आदि तो प्रत्यक्ष वस्तु हैं। इसलिये, उनको देखते समय रजतादि अध्यास हो सकते हैं। परन्तु प्रत्यगात्मा प्राज्ञ तो शुक्ति आदि के समान प्रत्यक्ष नहीं है। इसलिये, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अध्यास नहीं हो सकता-यह पहला आक्षेप है।

प्रत्यगात्मा तो विषय है ही नहीं, वह तो विषयी है। उसका युष्मत्प्रत्यय अर्थात् विषय से सम्बन्ध है ही नहीं, इसलिये भी अध्यास नहीं हो सकता - यह दूसरा आक्षेप है।

१६. उच्यते। न तावत् एकान्तेन अविषयः अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात् अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः।

१६. सुनो, यह आत्मा नियमित रूप से अविषय नहीं है क्योंकि वह 'मैं' इस प्रत्यय का विषय होने से और अपरोक्ष होने से प्रत्यगात्मा प्रसिद्ध है।

(१६.१) सिद्धान्ती परिहार करता है:-

यहाँ पहले प्राज्ञ के विषय न होने के कारण अध्यास असंभव है इस दूसरे आक्षेप का समाधान बता रहे हैं। 'प्राज्ञ विषयी है, विषय नहीं है' कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह कभी 'विषय हो ही नहीं सकता'; क्योंकि प्राज्ञ अहंप्रत्यय का विषय तो है ही। 'बीजावस्थापि न किञ्चिदवेदिषमिति उत्थितस्य प्रत्ययदर्शनात् देहे अनुभूयत एव'-जागने के बाद 'मैं कुछ नहीं जाना' इस प्रकार प्रत्यय उत्पन्न होने से, बीजावस्था भी देह में अनुभव को आती ही है (मां.का.भा. १.२)। यह सच है कि सुषुप्ति के समय प्राज्ञ अस्मत्प्रत्ययगोचर नहीं है। सुषुप्ति में किसी भी प्रत्यय का प्रवेश नहीं है। वाक्, इन्द्रिय या बुद्धि का विषय बननेवाला कोई भी विकार या व्यवहार वहाँ नहीं है। इसलिये, किसी से यदि पूछा जाये कि 'सुषुप्ति के समय आप कैसे रहते थे?', तो वह यही कहता है कि 'मैं नहीं जानता'। इन्द्र ने भी कहा:- 'उस अवस्था में तो इसे यह भी ज्ञान नहीं होता कि 'यह मैं हूँ' और न यह इन अन्य भूतों को ही जानता है। उस समय तो ये मानों विनाश को प्राप्त हो जाता है। इसमें तो मुझे इष्टफल दिखायी नहीं देता- **नाह खलु अयम् एवं सम्प्रत्यात्मानं जानाति अयम् अहम् अस्मि इति नो एवमानि भूतानि। विनाशम् एव अपीतो भवति न अहम् अत्र भोग्यं पश्यामि'** (छा.८.११.१)। इन्द्र तो अत्यन्त मेधावी हैं; इसलिये उन्होंने 'यह कुछ नहीं जानता है' कहकर प्राज्ञ को युष्मत्प्रत्ययगोचर बनाकर ही प्रजापति से प्रश्न किया। लेकिन सामान्य पुरुष तो नींद से उठने के बाद 'मैंने कुछ नहीं जाना' कहता है, अर्थात्, प्राज्ञ को अस्मत्प्रत्ययगोचर बनाकर ही बोलता है। इस प्रकार अस्मत्प्रत्यय के लिये विषय न बनने वाले प्राज्ञ को अस्मत्प्रत्यय का विषय बना देता

है। अतः प्राज्ञ मेधावियों के लिये एकान्तेन विषय है, और अमेधावियों के लिये विषयी भी है, न एकान्तेन अविषय भी है। मेधावी हो चाहे अमेधावी हो, प्राज्ञ तो दोनों के अनुभव में है ही। वह अपरोक्ष है। वह प्रत्यक्ष न होकर, परोक्ष न होकर, स्वानुभव को मिलनेवाला है—अर्थात्, प्रत्यगात्मा के रूप में सुप्रसिद्ध है।

प्रश्न: विषयी प्राज्ञ विषय कैसे हो जाता है?

उत्तर: प्राज्ञ स्वयं होने पर भी जीव उसे जानता नहीं है। जीव अपने को जाग्रत् और स्वप्न में होनेवाली ज्ञानक्रिया के द्वारा ही पहचानता है और विषयसुख या विषयवासना के सुख को भोगता है। सुषुप्ति में ज्ञानक्रिया और विषयभोग नहीं रहते, इसलिये उसमें वह अपना विनाश का सा भाव रखता है। विदिक्रिया-भोगक्रियारहित (जानने की और भोगने की क्रिया से रहित) ज्ञातृत्व और आनन्दमयत्व अपना धर्म है, यह न समझकर नींद से उठते ही जीव अपने में बुद्धि का अध्यास करके उस समय 'मैंने कुछ नहीं जाना। मैं सुख से सोया', कहता हुआ अपने को स्वयं विषय करता है। इसका दृष्टान्तः—एक व्यक्ति, जिसकी आँख नष्ट हो चुकी है, वह अपनी आँख की, और देखने की क्रिया की अनुपस्थिति को भी देखता है। अर्थात् वह, जो कि विषयी है, अपनी दृष्टि का आंख में आरोप करके 'मैं अन्धा हूँ, देख नहीं सकता' इस प्रकार कहता है। अतः, जबकि वह विषयी प्राज्ञ है, तो भी, अपने को नहीं जानने के कारण, अपनी अक्रियता के आधार पर (मैं कुछ नहीं जाना) अपने को ही विषय बना देता है। इस तरह, अपने आप को विषय कर देने के कारण, अपने में शरीरादि विषय और उनके धर्मों का अध्यास करने के लिये अवकाश मिल जाता है।

प्रश्न: अध्यास के लिये तो अध्यस्त और अधिष्ठान में सादृश्य आवश्यक है। प्रत्यगात्मा और देहादि में क्या सादृश्य है?

उत्तर: सुख ही सादृश्य है। कैसे? निर्विषयक सुख प्राज्ञ का धर्म है जिसे जीव सुषुप्ति में निरुपाधिक होकर अनुभव करता है। तथा जाग्रत् में भी देहादि के द्वारा सुख का अनुभव होता ही है। इस सादृश्य के कारण ही अध्यास होता है।

अब अगले आक्षेप के उत्तर के रूप में कहते हैं:-

१७. न चायमस्ति नियमः पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरम् अध्यसितव्य-मिति। अप्रत्यक्षेऽपि हि आकाशे बालाः तलमलिनतादि अध्यस्यन्ति।

१७. और ऐसा कोई नियम भी नहीं है कि पुरोवर्ती विषय में ही दूसरे विषय का अध्यास हो सकता है। अप्रत्यक्ष होने पर भी आकाश में अविवेकी जन तलमलिनता का अध्यास करते ही हैं।

(१७.१) अधिष्ठान प्रत्यक्ष न होने पर भी अध्यास हो सकता है। उदाहरण के लिये, आकाश का न कोई आकार है न वर्ण, इसलिये वह शक्ति की तरह प्रत्यक्ष नहीं है। और निरुपाधिक आकाश श्रोत्र का भी

विषय नहीं है। तो भी अविवेकी लोग उसमें नीलवर्ण का और उल्टे कटोरे के आकार का अध्यास करते हैं। आकाश में रहनेवाले धूम, रजादि के कणों से जब सूर्य का प्रकाश टकराकर बिखरता है तो प्रधानरूप से नीलवर्ण ही बिखरता है (मा. का. ३.८)। जैसे नील पुष्प के सम्मुख रखा हुआ निर्वर्ण स्फटिक नीला ही दिखता है, उसी प्रकार बिखरे हुये नीलवर्ण के कारण आकाश भी नीला दिखता है। तब अज्ञानीजन समझते हैं कि आकाश नीला है। आकाश नीला न होने के कारण यह अध्यास है। इसी प्रकार, क्योंकि आकाश का कोई आकार नहीं है, उसे उल्टे कटोरे के समान समझना भी अध्यास ही है।

१८. एवम् अविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यपि अनात्माध्यासः।

१८. इस प्रकार प्रत्यगात्मा में अनात्मा का अध्यास भी अविरुद्ध है।

(१८.१) प्रत्यगात्मा में किये हुए अध्यास पर दो आपत्तियाँ थीं, प्रत्यगात्मा विषय नहीं है और प्रत्यक्ष भी नहीं है। इन का परिहार बताकर प्राज्ञ में अनात्मा के अध्यास की साध्यता सिद्ध की गयी। यहाँ अनात्मा का अर्थ है प्राज्ञ से विलक्षण शरीरादि क्षेत्र।

१९. तमेतम् एवं लक्षणं अध्यासं पंडिता अविद्येति मन्यन्ते। तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः। तत्र एवं सति यत्र यदध्यासः तत्कृतेन दोषेण गुणेन वा अणुमात्रेणापि स न संबध्यते।

१९. उक्तलक्षणवाले इस अध्यास को ही पण्डितजन अविद्या मानते हैं, और विवेक करके वस्तुस्वरूप के निर्धारण को 'विद्या' कहते हैं। ऐसा होने पर जिसमें जिसका अध्यास है उसके गुण अथवा दोष के साथ उसका अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं होता है।

(१९.१) शक्ति का अज्ञान ही उसमें रजताध्यास का हेतु बनता है। उसी प्रकार सर्वत्र अधिष्ठान का अज्ञान ही अध्यास का हेतु बनता है; अब प्रश्न यह है कि यदि अध्यास अज्ञान का कार्य है तो फिर यहाँ अध्यास को ही अविद्या कैसे कहा है?

जैसे पागलपन के कार्य को पागलपन ही कहते हैं, उसी प्रकार कार्य को कारण शब्द से ही कहना रुढ़ि है। इस अर्थ में ही अध्यास को अविद्या कहा है। यहाँ कारण का अर्थ निमित्त या उपादान नहीं बल्कि हेतु अर्थ है। अधिष्ठान का अज्ञानरूप हेतु, किसी सादृश्य के आधार पर, अधिष्ठान में और किसी का अध्यास करता है। अधिष्ठान के स्वरूप को न जानना ही अज्ञान है—अर्थात्, अधिष्ठान के स्वरूपज्ञान का अभाव है। अधिष्ठान के ज्ञान से यह अज्ञान नष्ट होता है। भाष्यकार इसको ऐसे समझाते हैं—'यदि ज्ञानाभावः यदि संशयज्ञानं यदि विपरीतज्ञानं वा उच्यते अज्ञानम् इति, सर्वं हि तत् ज्ञानेन एव निवर्त्यते'—यदि ज्ञानाभाव को, संशयज्ञान को अथवा विपरीत ज्ञान को अज्ञान कहा जाये तो इन सभी की निवृत्ति ज्ञान से

ही हो सकती है (बृ. भा.३.३.१)। यहाँ ज्ञानाभाव अज्ञान शब्द का वाच्यार्थ है और ज्ञानविरोधी उसका लक्ष्यार्थ है। अज्ञान और अविद्या एक ही हैं और विद्याप्रतियोगी ही अविद्या है, 'भाव प्रतियोगी हि अभावः' (तै.भाष्य अवतरणिका)।

(१९.२) वस्तुस्वरूप का निश्चय ही विद्या है। यहाँ वस्तु क्या है? अध्यास का अधिष्ठान है। पहले अध्यास में प्राज्ञ अधिष्ठान है और तद्विपर्ययाध्यास में जगत् अधिष्ठान है। ये दोनों स्वरूप में एक ही आत्मा हैं। यहाँ कही हुयी वस्तु वही आत्मा है। जगत् और प्राज्ञ, अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, ये एक ही आत्मा के दो रूप हैं। क्षेत्रज्ञ द्वारा शुद्धात्मा में किये हुये ये दो अध्यस्त रूप नहीं है, क्योंकि शुद्धात्मा में अध्यास करना असाध्य है। इसकी चर्चा बाद में करेंगे। ये दोनों आत्मा के ही स्वेच्छा से, क्षेत्र के भोग और अपवर्ग के लिये, लिये हुये रूप हैं। क्षेत्र कार्यरूप है और क्षेत्रज्ञ अकार्यरूप है। मिट्टी जैसे घटाकार लेती है, उसी प्रकार विकारों के द्वारा दिख पड़ने वाली आत्मा ही क्षेत्र है। घटाकार द्वारा दिखायी देने पर भी जैसे वह मिट्टी ही है, उसी प्रकार, कार्यरूपी क्षेत्र भी आत्मा ही है तथा प्राणोपाधि द्वारा दिखायी देनेवाला आत्मा क्षेत्रज्ञ है। वर्णपुष्पोपाधि द्वारा सवर्ण दिखने पर भी जैसे स्फटिक निर्वर्ण ही है, वैसे ही सोपाधिक दिखने पर भी क्षेत्रज्ञ निरुपाधिक आत्मा ही है। अपनी अविद्या के कारण क्षेत्रज्ञ अपने से विलक्षण क्षेत्र का अपने में अध्यास करता है, जो कि जाग्रत्-स्वप्न व्यवहार में स्पष्ट दिखायी देता है। सुषुप्ति में क्षेत्र का सम्बन्ध नहीं रहता इसलिये उस समय अध्यास भी नहीं होता क्योंकि बुद्धिसम्बन्ध नहीं रहता।

'सुषुप्तकाले स्वेन आत्मना सता संपन्नस्सन् संयक् प्रसीदतीति जाग्रत्स्वप्नयोः विषयेन्द्रिय संयोग जातं कालुष्यं जहाति'-सुषुप्तकाल में अपने आत्मा सत् से सम्पन्न हुआ पुरुष सम्यक् रूप से प्रसन्न होता है अतः वह जाग्रत तथा स्वप्न के विषय और इन्द्रियों के संयोग से प्राप्त हुई कालिमा को त्याग देता है (छा.भा. ८.३.४)। परन्तु 'स्वयं आत्मा ही है' इसका अग्रहण तो रहता ही है। वस्तुस्वरूपावधारण में एकमात्र बाधा यही है। **'तत्त्व अग्रतिबोधमात्रमेव हि बीजं प्राज्ञत्वे निमित्तम्'** (मां.का.भा. १.११) शास्त्रवाक्यों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से स्वयं को आत्मा समझने के समकाल में ही प्राज्ञत्व भी नष्ट हो जाता है। यही यहाँ कही गयी वस्तुस्वरूपावधारण विद्या है।

प्रश्न: 'क्षेत्र संबंध न रखने वाले क्षेत्रज्ञ में स्वरूप का अग्रहण कैसे रह सकता है? वह अग्रहण तो क्षेत्रधर्म है न?'

उत्तर: यह ठीक है। **'अग्रहण विपरीत संशय प्रत्ययाः तन्निमित्ताः करणस्य एव कस्यचिद् भवितुम् अर्हन्ति न ज्ञातुः क्षेत्रज्ञस्य'** - अग्रहण, विपरीतग्रहण और संशय के प्रत्यय और उनके कारण ये सब किसी-न-किसी करण के ही धर्म हैं, ज्ञाता क्षेत्रज्ञ के नहीं (गी.भा. १३.२)। उतना ही नहीं। इन तीनों का नाशक विद्याप्रत्यय भी क्षेत्रधर्म ही है (गी.भा. २.२१) वह मन से प्राप्त होने वाला है— **'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'** (बृ. ४.४.१६) तो भी जाग्रत्स्वप्नों में रहने वाले अध्यास को देखकर, जब अन्तःकरण उपशान्त है उस सुषुप्ति में भी क्षेत्रज्ञ के अग्रहण को मानना पड़ेगा।

प्रश्न: 'इसका अर्थ क्या ऐसा हो सकता है कि जब सामने वाली वस्तु नहीं दिख पड़ती तब 'मैं अन्धा हूँ' इस प्रकार जैसे निश्चय करता हूँ, उसी प्रकार दुःख से जब स्वरूपानन्द का अनुभव नहीं कर सकता हूँ तब निश्चय होता है कि अग्रहण मेरा धर्म है?'

उत्तर: ऐसा नहीं। वस्तु को देखने में ही आप व्यस्त रहने के कारण उसी समय अपने-आप पर भी नजर रख कर निश्चय नहीं किया जा सकता कि आप अन्धे हैं। 'वस्तु न दीख पड़ने पर मेरा अन्धत्व अनुमान से निश्चय होगा।' ऐसा भी नहीं होगा। क्योंकि अनुमान करते समय आपकी आंख को देखने में आप व्यस्त रहेंगे। आपके अन्धत्व का निश्चय करते समय आप मन को देखने में व्यस्त रहेंगे। आपके अन्धत्व का निश्चय नहीं किया जा सकता। अनुमान से निश्चय करने में इस प्रकार का अनवस्था दोष रहेगा ही। इसके परिहार के लिये स्वीकार करना पड़ेगा कि आप कुछ न कुछ देखते ही रहते हैं, दृष्टि आपका धर्म है। इसलिये आप कभी भी अन्धे नहीं होंगे। उसी प्रकार दार्ष्टान्त में भी अग्रहण आपका धर्म नहीं हो सकता, वह करणधर्म ही है। [इसका विस्तृत वर्णन अध्यासभाष्य के अन्त में टिप्पणी में देखें।]

(१९.३) आगे यह बताते हैं कि जैसे शुक्ति अध्यस्तरजत से अदूषित ही रहती है, उसी प्रकार अनात्मा के अध्यास से प्रत्यगात्मस्वरूप अणुमात्र भी दूषित नहीं होता। अर्थात् अनात्मा के अनृतत्व, जड़त्व, परिच्छन्नत्व आदि दोष प्रत्यगात्मा का अणुमात्र भी स्पर्श नहीं करते। तद्विपरीत प्रत्यगात्मा के धर्मों का अनात्म बुद्धिविषयों में अध्यास करने पर उन विषयों को आत्मधर्म प्राप्त नहीं हो जाते। अर्थात्, प्रत्यगात्मा के ज्ञान और आनन्द आदि गुणों का अणुमात्र भी उनसे सम्बन्ध नहीं होता।

२०. तमेतम् अविद्याख्यम् आत्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेय व्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि। कथं पुनः अविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च इति? उच्यते। देहेन्द्रियादिषु अहं-ममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। न हि इन्द्रियाणि अनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः संभवति। न च अधिष्ठानमन्तरेण इन्द्रियाणां व्यवहारः संभवति। न च अनध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चित् व्याप्रियते। न च एतस्मिन् सर्वस्मिन् असति असंगस्य आत्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते। न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति। तस्मात् अविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।

२०. आत्मा और अनात्मा के अविद्या नामक उक्त परस्परअध्यास को आधार करके सब लौकिक और वैदिक प्रमाण-प्रमेय का व्यवहार प्रवृत्त हुआ है और सब विधि-निषेधबोधक एवं मोक्षपरक शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्र किस अर्थ में अविद्यावान् के लिये विषय हैं? इस पर कहते हैं-देह, इन्द्रिय आदि में 'मैं' और 'मेरा' के अभिमान से रहित पुरुष का

प्रमातृत्व असिद्ध होने पर प्रमाताके अनुपपन्न होने से प्रमाण की प्रवृत्ति भी अनुपपन्न होती है, इसलिये इन्द्रियों का ग्रहण किए बिना प्रत्यक्ष आदि व्यवहार सम्भव नहीं है और अधिष्ठान के बिना इन्द्रियों का व्यवहार सम्भव नहीं है। जिसमें आत्मभाव अध्यस्त नहीं है, उस शरीर से कोई व्यापार नहीं कर सकता। और ये सब अध्यास न हों, तो असंग आत्मा प्रमाता नहीं हो सकता और प्रमाता के बिना प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र का आश्रय अविद्यावान् पुरुष ही हैं।

(२०.१) इस परिच्छेद का उद्देश्य यह समझाना है कि सम्पूर्ण व्यवहार अध्यास के आधार पर ही होता है। किस में किस का अध्यास? **आत्मानात्मनोः इतरेतराध्यासः**। यहाँ स्पष्ट है कि आत्मा क्षेत्रज्ञ है और अनात्मा क्षेत्र है। **आत्मशब्दस्य निरुपपदस्य प्रत्यगात्मानि गवादि शब्दवन् निरूढत्वात्**— गवादि शब्द के समान उपपदरहित आत्मशब्द का अर्थ प्रत्यगात्मा में निरूढ है (छां. भा. ६.८.७)। आत्मानात्म विवेक इत्यादि प्रयोगों में भी यही अर्थ होता है। आत्मा का शब्दार्थ शुद्धात्मा नहीं हो सकता। क्योंकि वह सर्वात्म होने से अनात्म है ही नहीं। सब व्यवहार या तो किसी अप्रिय को छोड़ने के लिये होते हैं (हान), या फिर प्रिय को प्राप्त करने के लिये होते हैं (उपादान)। ये इच्छाएँ जिसमें नहीं होतीं वह व्यवहार ही नहीं करता। व्यवहार करने से पहले क्या हेय है और क्या उपादेय इसका निश्चय प्रमाण से ही होता है। प्रमाण से प्रमेय का निश्चय करने वाला ही प्रमाता होता है। प्रमातृत्व अध्यास से ही पैदा होता है। कैसे? इस प्रकार:—‘मैंने देखा, मैंने सुना, मैंने निश्चय किया’ इत्यादि से जो करणक्रिया का अपने में अध्यास करता है वही प्रमाता है। अर्थात् प्रमाता वही हो सकता है जो देह इन्द्रिय बुद्धि में ‘मैं’ ऐसा अभिमान रखता है। क्षेत्रज्ञ का क्षेत्र में यह अभिमान ही अध्यास है—क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का संयोग है, और यही सर्वव्यवहार का आधार भी है। इसीलिये, सब व्यवहार आविद्यक हैं; अर्थात्, अविद्यावान् के ही विषय हैं यह निश्चित हो जाता है। आगे पशुओं के व्यवहार से सादृश्य दिखाकर ये दृढ़ करते हैं कि मनुष्यों का व्यवहार भी आविद्यक ही है।

२१. पशवादिभिश्च अविशेषात्। यथा हि पशवादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां संबन्धे सति शब्दादि विज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्तन्ते, अनुकूले च प्रवर्तन्ते। यथा दंडोद्यतकरं पुरुषम् अभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छति इति पलायितुमारभन्ते। हरिततृण पूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रति अभिमुखी भवन्ति। एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीन् आक्रोशतः खड्गोद्यतकरान् बलवतः उपलभ्य ततो निवर्तन्ते, तद्विपरीतान् प्रति प्रवर्तन्ते। अतः समानः पशवादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेय व्यवहारः। पशवादीनां च प्रसिद्धः अविवेकपुरस्सरः प्रत्यक्षादि व्यवहारः। तत्सामान्यदर्शनात् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादि व्यवहारः तत्कालः समानः इति निश्चीयते।

२१. और पशु आदि के व्यवहार से विद्वान् के व्यवहार में विशेषता नहीं है। जैसे पशु आदि शब्द आदि का श्रोत्र आदि के साथ सम्बन्ध होने पर शब्द आदि का ज्ञान प्रतिकूल हो तो उससे निवृत्त होते हैं, और अनुकूल हो तो उसकी ओर प्रवृत्त होते हैं। जैसे किसी पुरुष को हाथ में दण्ड उठाए हुए देखकर, 'यह मुझे मारना चाहता है' ऐसा समझकर भागने लगते हैं, यदि उसके हाथ में हरी घास होती है तो उसके संमुख हो जाते हैं। इसी प्रकार विवेकी पुरुष भी, क्रूरदृष्टिवाले, हाथ में खड्ग उठाये हुए, चिल्लाते हुए बलवान् पुरुषों को देखते हैं तो उनसे हट जाते हैं और उनसे विपरीत पुरुषों की ओर प्रवृत्त होते हैं। इसलिए पुरुषों का प्रमाण और प्रमेय व्यवहार पशु आदि के समान ही व्यवहार है। और पशु आदि का प्रत्यक्ष व्यवहार अविवेकपूर्वक है, यह प्रसिद्ध ही है। पशु आदि के साथ सादृश्य दिखाई देता है, इसलिए विवेकी पुरुषों का भी प्रत्यक्ष आदि व्यवहार तत्काल में (व्यवहारकाल में) समान है ऐसा निश्चय होता है।

(२१.१) प्रश्न: सभी व्यवहार यदि आविद्यक ही होते हैं तो ज्ञानी में जो व्यवहार दिखायी देता है, वह कैसे होता है?

उत्तर: प्रकृति से होता है। 'समस्त कार्य, करण और विषयों के आकार में परिणत होकर त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही पुरुष के भोग और अपवर्ग का सम्पादन करने के लिये देहेन्द्रियादि के आकारों द्वारा मूर्तिमान् होती हैं- प्रकृति: च त्रिगुणात्मिका सर्वकार्यकरण विषयाकारेण परिणता पुरुषस्य भोगापवर्गार्थकर्तव्यतया देहेन्द्रियाद्याकारेण संहन्यते' (गीता.भा. अध्याय १३ का सम्बन्धभाष्य)।

'भौतिक करणों की सृष्टि विषयों की सृष्टि के साथ-साथ ही होती है। यदि तावद् भौतिकानि करणानि ततः भूतोत्पत्तिप्रलयाभ्याम् एव एषाम् उत्पत्तिप्रलयौ भवतः' (सू.भा. २.३.१५)। कुछ लोगों की कल्पना है कि करण तन्मात्राओं से बनें हैं। यह ठीक नहीं है। तन्मात्रा प्रकृतिकोटि में आते हैं, लेकिन करण त्रिवृत्कृतभौतिकविकृति हैं-करण विषय के समानजातीय ही हैं जात्यन्तर नहीं-विषयसमान-जातीयं करणं, न तु जात्यन्तरम्। (बृ.भा.२.४.११) और इसलिये ही करण अपने-अपने विषयों को ग्रहण भी कर पाते हैं। अनृत रूप और अनृत नेत्र के सन्निकर्ष से अनृत बुद्धि में रूप का अनृत प्रत्यय पैदा होता है। शब्दादि प्रत्यय भी इसी प्रकार जन्म लेते हैं। यह प्रकृति का कार्य है पुरुष का नहीं। प्रकृतिस्थ पुरुष, यानी जो प्रकृति को स्वयं समझता है-अर्थात् अविद्यावान् पुरुष-अपने को प्रमाता मानता है। लेकिन ज्ञानी, 'इन्द्रियां इन्द्रियार्थों में प्रवृत्त होती हैं' इस प्रकार समझकर 'इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्'- (गीता ५.९) साक्षीरूप से रहता है। अर्थात् उसमें कर्तृत्वरहित व्यवहार चलता है। 'ऐसा पुरुष, लोकव्यवहार की साधारण दृष्टि से तो सांसारिक पुरुषों द्वारा आरोपित किये हुये कर्तापन के अनुसार भिक्षाटन आदि कर्मों का कर्ता होता है। परन्तु शास्त्रप्रमाणजनित अपने अनुभव से तो वह अकर्ता ही होता

है-लोकव्यवहार- सामान्यदर्शनेन तु लौकिकैः आरोपितकर्तृत्वे भिक्षाटनादौ कर्मणि कर्ता भवति स्वानुभवेन तु शास्त्रप्रमाणजनितेन अकर्ता एव' (गी.भा. ४.२२) ।

(२१.२) इस प्रकार निश्चित होता है कि कर्म बने रहने का कारण प्रकृति है। अब यह बताना है कि विद्वान में कर्मरंभ के लिये करणों में प्रवृत्ति कैसे आती है। प्रवृत्ति प्रारब्ध से आती है। 'शरीरारम्भक कर्मों का फल निश्चित होने के कारण, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के बाद भी वाणी, मन और शरीर की चेष्टा अवश्यम्भाविनी ही है, क्योंकि जो कर्म फलोन्मुख हो चुका है वह तो छूटे हुये बाणादि की प्रवृत्ति के समान अधिक बलवान है-शरीरारम्भकस्य कर्मणः नियतफलत्वात् सम्यग्ज्ञानप्राप्तौ अपि अवश्यम्भाविनी प्रवृत्तिः वाङ्मनःकायानाम् लब्धवृत्तेः कर्मणः बलीयस्त्वात् मुक्तेष्वादि प्रवृत्तिवत्' (बृ.भा.१.४.७) ।

(२१.३) प्रश्नः यह सिद्ध है कि प्रवृत्ति अविद्या से पैदा होती है। इसलिये इतनी सी भी प्रवृत्ति जो ज्ञानी में दिखायी देती है, क्या उसके लिये अविद्यालेश को स्वीकार करना पड़ेगा?

उत्तरः नहीं, ऐसा मत कहना। ज्ञानी में अन्य लोगों के समान जो प्रवृत्ति दिखलायी देती है, वह उसके करणों में पैदा होती है, उसमें नहीं। प्रारब्धकर्म का वेग जबतक रहता है, अर्थात् जबतक शरीरपात नहीं होता, तब तक व्यवहार, जो कि क्षेत्रधर्म है, चलता ही रहता है। उसको देखकर यह अटकल लगाना कि 'इसमें कितना आत्मज्ञान है?' अर्थहीन है क्योंकि 'एक पुरुष को अपने हृदय से ही जिसकी प्रतीति होती है, ऐसे ब्रह्मज्ञान और देहधारण का अन्य पुरुष द्वारा आक्षेप कैसे किया जा सकता है? श्रुति-स्मृति में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों के निर्देश से भी यही कहा जाता है-कथं हि एकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं च अपरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्येत? श्रुतिस्मृतिषु च स्थितप्रज्ञलक्षणनिर्देशेन एतदेव निरुच्यते' (सू.भा. ४.१.१५) ।

(२१.४) इस प्रकार व्यवहार में, चाहे वह ज्ञानी का हो चाहे अज्ञानी का, प्रवृत्ति और प्रकृति दोनों रहती ही हैं। अब किसकी भूमिका क्या है? कितनी है? यह निश्चय करने के लिये चर्चा को आगे बढ़ाते हैं। प्रवृत्ति कर्मरंभ के लिये हेतु है और कर्म होने के लिये प्रकृति कारण है। अर्थात् कर्म के लिये प्रवृत्ति निमित्त है और प्रकृति उपादान। 'मुझे यह कर्म करना है' इस प्रकार प्रवृत्ति को पैदा करके फिर कर्म समाप्ति के बाद 'मैंने यह कर्म किया' इस कर्तृत्व को अविद्या पैदा करती है। लेकिन कर्म होते समय अविद्या कारण नहीं हो सकती, क्योंकि कार्य तो प्रकृति से ही होता है- 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कार विमूढात्मा कर्ता अहम् इति मन्यते' (गीता ३.२७) । इसलिये साधक को पहले शास्त्र से यह निश्चय करना होता है कि कौन सा कर्म करने योग्य है- 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' (गीता. १६.२४) । फिर शास्त्रानुसार उस कर्म के लिये निमित्तमात्र होना होता है

(निमित्तमात्रं भव, गीता ११.३३); फल में निरासक्त होना होता है (मा कर्मफल हेतुर्भूः, गी. २.४७)। इससे चित्त शुद्ध होकर फिर विद्याप्राप्ति के लिये रास्ता बनता है।

(२१.५) इस प्रकार सम्पूर्ण व्यवहार के लिये, अविद्या और प्रकृति, ये दोनों मिलकर ही कारण होते हैं। इस युग्म को भाष्यकार ने ईश्वरव्यवहार के सम्बन्ध में अविद्यासंयुक्त प्रकृति (गी.भा. ७.४) और जीव और ईश्वर-दोनों के सम्बन्ध में अविद्यालक्षणा प्रकृति (गी.भा. ५.१४, १३.२१, १३.२३, १३.३४, के. भा. १.१४) कहा है। अविद्या न होने के कारण ईश्वर में प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये; 'अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'-इस जीवात्मा रूप से प्रवेश करके नामरूपों को रचता हूँ (छा. ६. ३.२) कहकर, जीव के द्वारा प्रवृत्ति को प्राप्त करके ईश्वर जगत्व्यवहार चलाता है। यही है ईश्वर का अहंकार 'अविद्यासंयुक्तम् अव्यक्तम्' (गी.भा. ७.४)। प्रसंगवशात् इस विवरण से अविद्या-प्रकृति का अपर्यायत्व निश्चय हो जाता है।

यहाँ तक लौकिक व्यवहार आविद्यक है यह निश्चय किया गया। परन्तु वैदिक व्यवहार इससे विलक्षण है क्योंकि उसमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का पृथक्त्व अन्तर्निहित होता है। अब आगे के परिच्छेद में यह दिखलायेंगे कि इस प्रकार विलक्षण होने पर भी, वैदिक व्यवहार भी आविद्यक ही है।

२२. शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी न अविदित्वा आत्मनः परलोक-संबंधम् अधिक्रियते, तथापि न वेदान्तवेद्यम् अशनायाद्यतीतम् अपेत ब्रह्मक्षत्रादिभेदम् असंसारी आत्मतत्त्वम् अधिकारे अपेक्ष्यते। अनुपयोगात् अधिकारविरोधाच्च। प्राक्च तथा भूतात्मविज्ञानात् प्रवर्तमानं शास्त्रम् अविद्यावद्विषयत्वं नातिवर्तते। तथा हि "ब्राह्मणो यजेत" इत्यादीनि शास्त्राणि आत्मनि वर्णाश्रमवयोऽवस्थादि विशेषाध्यासम् आश्रित्य प्रवर्तन्ते।

२२. शास्त्रीय व्यवहार में तो परलोक के साथ आत्मा का सम्बन्ध जाने बिना यद्यपि विवेकी पुरुष अधिकृत नहीं होता, तो भी जिस आत्मतत्त्व का ज्ञान वेदान्त से प्राप्त होता है, जिसका क्षुधा आदि के साथ सम्बन्ध नहीं है, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेद नहीं है, ऐसे असंसारी आत्मतत्त्व की कर्माधिकार में अपेक्षा नहीं है; क्योंकि उसमें आत्मतत्त्व का अनुपयोग है और अधिकार का विरोध भी है। इस प्रकार के आत्मज्ञान के पूर्व में प्रवर्तमान शास्त्र अविद्यावान् का ही आश्रय करता है। जैसे कि- 'ब्राह्मण को यज्ञ करना चाहिए' आदि शास्त्र आत्मा में वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था आदि का अध्यास करके ही प्रवृत्त होते हैं।

(२२.१) यह स्पष्ट है कि गृहकामना, स्त्रीकामना आदि से प्रेरित होकर किये गये लौकिक कर्म

देहाध्यास पर ही आधारित होते हैं। लेकिन वैदिक कर्मों के विषय में ऐसा नहीं है, उनमें कुछ अन्तर है। स्वर्गादि की कामना से प्रेरित होकर ज्योतिष्टोमादि श्रौतकर्म हो या पितृलोक की कामना से किये गये श्राद्ध, तर्पणादि स्मार्तकर्म हो, इन सभी का आधार शरीर से पृथकत्व में अपना विश्वास ही है। यह विश्वास तो शास्त्राधारित ही है, परन्तु सुषुप्ति में शरीर से अपना पृथकत्व अनुभवसिद्ध है। यह अनुभव होने पर भी जैसे जागने पर देहाध्यास होता ही है, उसी प्रकार शरीर से पृथकत्व में विश्वास रखने वालों को भी देहाध्यास रहता ही है। ऐसे देखा जाय तो इस वर्तमान शरीर से अधिक शोभायमान एक अन्य शरीर और कहीं पाने की इच्छा ही वैदिक कर्म का आधार है।

बुद्धिपूर्वकारी, अर्थात् परलोक से अपना सम्बन्ध जानकर श्रौतस्मार्त कर्म करनेवाला। ऐसे लोगों के लिए कब, कौन सा कर्म करना है, यह शास्त्र विधान करता है। शास्त्रीय कर्म का अधिकारी कौन है? 'अर्थी समर्थो विद्वान् शास्त्रेण अविपर्युदस्तः'—उसी कर्म के फल का इच्छुक, उस कर्म को करने में समर्थ, कर्म के स्वरूप को जानने वाला विद्वान् जो शास्त्र द्वारा उस कर्म के लिये निषिद्ध नहीं किया गया है, वही अधिकारी है। इसलिये वैदिक कर्म ब्राह्मणादि वर्ण, ब्रह्मचर्यादि आश्रम, वय, अवस्था इत्यादि के आधार पर ही निश्चित होते हैं। उदाहरण के लिये, ब्राह्मण राजसूय यज्ञ का अधिकारी नहीं है, और विधुर तो किसी भी यज्ञ का अधिकारी नहीं है इत्यादि। इसलिये वैदिक कर्म भी आविद्यक ही हैं, ज्ञानी के लिये नहीं हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। सच कहें तो आत्मविद्या का कर्म में कोई उपयोग नहीं है और आत्मज्ञानी कर्म का अधिकारी भी नहीं है। 'उपनिषदों से ही समझ में आने वाला, क्षुधादि देहधर्मों से परे ब्रह्मक्षत्रादि भेदों से रहित, संसार से असम्बन्धित आत्मा वह स्वयं ही है' इस विद्याप्राप्ति से पहले ही कर्म में अर्थ है, बाद में नहीं। यह समझने के लिये प्राज्ञ के लक्षणों का स्मरण करना ही पर्याप्त है। प्राज्ञ में करण नहीं, गमनागमन नहीं, वह निरतिशय आनन्द से पूर्ण है। वह कर्म कैसे कर सकता है? और क्यों करेगा? इस प्रकार, जब प्राज्ञत्व में स्थित होने पर ही कर्म छूट रहा है, तो जो उसके भी साक्षी आत्मा में स्थित है, उसे कर्मसम्बन्ध कैसे रह सकता है? सुतराम् नहीं रहता।

(२२.२) अब निष्काम कर्म का विषय लिया जाता है:—सकाम कर्म बुद्धि को अध्यास में और दृढ़ करते हैं; तद्विरुद्ध निष्काम कर्म अविद्या के नाश में सहायता करते हैं। फलासक्ति रहित और ईश्वर प्रीत्यर्थ ही होने के कारण निष्काम कर्म आत्मविद्या के लिये अत्यन्त आवश्यक ईश्वरानुग्रह उत्पन्न करते हैं। इसलिये शास्त्र आरुरुक्षु के लिये निष्काम कर्म का विधान करता है। इससे वैराग्य की प्राप्ति होती है और तत्पश्चात् शास्त्र आरुरुद्ध के लिये अंतरंग साधना के रूप में ध्यानकर्म की विधि करता है। ध्यान, कर्म होने पर भी, बुद्धि को निर्मल स्वच्छ सूक्ष्म करता है, जिससे विद्याप्राप्ति के लिये मार्ग बन जाता है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि किसी भी कर्म का विधान अविद्वान् के लिये ही है, ज्ञानी के लिये नहीं।

२३. अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्बुद्धिः इत्यवोचाम। तद्यथा पुत्रभार्यादिषु विकलेषु

सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वा इति बाह्य धर्मान् आत्मनि अध्यस्यति। तथा देहधर्मान् स्थूलोऽहम् कृशोऽहम् गौरोऽहम् तिष्ठामि गच्छामि लंघयामि च इति। तथा इंद्रियधर्मान् मूकः काणः क्लीबः बधिरः अन्धोऽहम् इति। तथा अन्तःकरण धर्मान् काम संकल्प विचिकित्सा अध्यवसायादीन्। एवम् अहंप्रत्ययिनम् अशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मनि अध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेण अन्तःकरणादिषु अध्यस्यति।

२३. 'जिसमें जो नहीं है, उसमें वह है' ऐसी बुद्धि अध्यास है। यह पहले बतला चुके हैं। वह अध्यास इस प्रकार है—पुत्र, भार्या आदि के अपूर्ण और पूर्ण होने पर मैं ही अपूर्ण और पूर्ण हूँ, ऐसा बाह्य पदार्थों के धर्मों का अपने में अध्यास करता है। इसी प्रकार आत्मा में देह के धर्मों का अध्यास करके कहते हैं कि 'मैं मोटा हूँ', 'मैं कृश हूँ', 'मैं गौरा हूँ', 'मैं खड़ा हूँ', 'मैं जाता हूँ', 'मैं लांघता हूँ'। इसी प्रकार इंद्रियों के धर्मों का अध्यास करके कहते हैं कि 'मैं गूंगा हूँ', 'मैं काना हूँ', 'मैं नपुंसक हूँ', 'मैं बहरा हूँ', 'मैं अन्धा हूँ'। इसी प्रकार काम, संकल्प, सशंय, निश्चय आदि अन्तःकरण के धर्मों का आत्मा में अध्यास करते हैं। एवं ('मैं' ऐसा ज्ञान रखने वाला) अहंप्रत्ययी का—सब वृत्तियों के साक्षी प्रत्यगात्मा में—अध्यास करते हैं और इसके विपरीत उस सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा का अन्तःकरण आदि में अध्यास करते हैं।

(२३.१) अध्यास की चर्चा का उपसंहार करते हुये यहाँ क्रम से बाहर के युष्मत्प्रत्ययगोचर पुत्रभार्यादि से आरंभ करके आन्तरिक प्राज्ञ तक किया हुआ अध्यासवैविध्य वर्णित है। यहाँ याद रखने की बात यह है कि जगत् को ही अध्यस्त नहीं कहा है। और इस कंडिका में अध्यासक कौन है, अधिष्ठान क्या है—इनको स्पष्ट कर रहे हैं। 'इस प्रकार अध्यास करनेवाला कौन है?' अहंप्रत्ययी। 'किसमें अध्यास कर रहा है?' प्रत्यगात्मा में। 'ये दोनों कौन हैं?' 'अहंप्रत्ययी अहंकार है, शुद्धात्मा ही प्रत्यगात्मा है', ऐसी कल्पना करके लोग इन कल्पनाओं के समर्थन के लिये छल से विचित्र तर्कों को प्रस्तुत करते हैं, फिर भी भाष्यवाक्यों से समन्वय नहीं होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये कल्पनाएं गलत हैं। अहंप्रत्यय का अन्तःकरण में उत्पन्न होना सच होने पर भी अन्तःकरण ही अहंप्रत्ययी नहीं हो सकता क्योंकि वह जड़ है। तो अहंप्रत्ययी कौन है? 'अतस्मिन् तत् बुद्धिः अध्यासः'—वह जो नहीं है उसमें उसकी बुद्धि ही अध्यास है। यह मिथ्याप्रत्यय है जो बुद्धि (अन्तःकरण) में पैदा होता है। इस प्रत्यय से जुड़ा हुआ अन्तःकरण जिसकी उपाधि है वह क्षेत्रज्ञ ही अहंप्रत्ययी है। सारे प्रत्यय जाग्रत् में ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये वह 'बहिष्प्रज्ञ' है। ये ही है, जो अध्यास कर रहा है। 'किसमें?' अशेष स्वप्रचारसाक्षी प्रत्यगात्मा में। 'स्वप्रचार क्या है?' मिथ्याप्रत्यय बिना रोक-टोक के अन्तःकरण में संचार करते रहते हैं। यह संचार ही प्रचार है। अहंप्रत्ययी अन्तःकरण को स्वयं समझता है। इसलिये, बहिष्प्रज्ञ की यह कामसंकल्पविचिकित्सा ही

स्वप्नप्रचार है। प्रत्यगात्मा, जोकि इसका साक्षी है, उसे आत्मा कहना गलत है क्योंकि साक्षित्व साक्षी से भिन्न विषय की अपेक्षा रखता है। परन्तु आत्मा से भिन्न तो कुछ भी नहीं है, सब कुछ आत्मा ही है। इसलिये, स्वरूप में आत्मा साक्षी नहीं है। इतना ही नहीं, बाह्य पुत्रभार्यादि से आरंभ करके, क्रम से देह, इन्द्रियाँ अन्तःकरण को बताकर 'उनका साक्षी प्रत्यगात्मा है', इस प्रकार भाष्यकार जब समझा रहे हैं, तब, मध्य में स्थित प्राज्ञ को छोड़कर झट से शुद्धात्मा की ओर कूदना असमजस ही है। प्राज्ञ ही साक्षी है, अर्थात् बहिष्प्राज्ञ प्राज्ञ में अपना अध्यास कर रहा है। 'कैसे कर रहा है?' 'मैं सब कुछ जाननेवाला ज्ञाता हूँ। मैं ही प्राज्ञ हूँ। लेकिन सुषुप्ति के समय अन्तःकरण नहीं था। इसलिये मैं कुछ नहीं जान पाया' इस प्रकार कहकर अध्यास करता है। अगर वह अपनी इच्छा से करणसम्बन्ध को छोड़ कर सोया होता तो प्राज्ञ ज्ञाता हो सकता था। परन्तु ऐसा नहीं है। प्राज्ञ का स्पर्श भी करने में असमर्थ करण स्वयं शान्त हो जाते हैं। इसलिये बहिष्प्राज्ञ का प्राज्ञ को ज्ञातृत्व कहना उचित नहीं है। 'तो फिर शास्त्र यह ज्ञातृत्व कैसे कहता है?' अविद्या के कारण बहिष्प्राज्ञ का उसमें (प्राज्ञ में) किये हुये अध्यास का अनुवाद करके कहता है। प्राज्ञ आत्मा ही है परन्तु इस एकत्व ज्ञान के लिये अविद्या अड़चन है। अविद्या के कारण ही ज्ञानक्रियारहित ज्ञातृत्व उसमें अध्यस्त है। 'ज्ञाता में समझने की क्षमता रूपी ज्ञान तो हमेशा रहता ही है। फिर भी, सुषुप्ति में कुछ नहीं जानने का कारण क्या अन्तःकरण की अनुपस्थिति है? या और कुछ है?' इस प्रकार यदि अर्थापत्ति से विचार किया होता तो शास्त्र के सहारे ज्ञातृत्व से परे आत्मैकत्व की प्राप्ति हुयी होती। परन्तु अध्यास में ही आनन्द देखने वाले मूर्ख को विचार करने के लिये चित्त का समाधान कहां से आयेगा?

अध्यास का स्वरूप समझाने के बाद अब यहाँ विद्या का स्वरूप दिखा रहे हैं—

२४. एवम् अयम् अनादिरनन्तो नैसर्गिको अध्यासः मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्व-प्रवर्तकः सकललोकप्रत्यक्षः। अस्य अनर्थ हेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते। यथा च अयमर्थः सर्वेषां वेदान्तानाम्, तथा वयम् अस्यां शारीरक-मीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः।

२४. इस प्रकार अनादि, अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्याज्ञानस्वरूप और कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि उत्पन्न करनेवाला यह अध्यास सब लोगों के प्रत्यक्ष है। इस अनर्थ के हेतु (अध्यास का) नाश करने वाली आत्मैकत्व विद्या की प्रतिपत्ति के लिए सब वेदान्त आरम्भ किए जाते हैं। सब वेदान्तों का जो यही अर्थ है, उसको हम इस शारीरक मीमांसा में दिखायेंगे।

(२४.१) यहाँ अध्यास को अनादि कहा है। कैसे? सुषुप्ति के स्वानुभव के आधार पर जब हम जाग्रत् व्यवहार में रहनेवाले अध्यास को समझाते हैं, तब तुरन्त ही स्पष्ट रूप से वह अध्यास समझ में आ जाता है। इसलिये अध्यास के लिये अनुभव ही प्रमाण है। अध्यास के कारण ही कर्म होता है और कर्म से

ही जन्म होता है। इसलिये, हमारे वर्तमान जन्म के लिये गतजन्मों के कर्म ही कारण हैं; और गतजन्मों के कर्म अध्यास के कारण ही हुये हैं। इस प्रकार, हम कितने ही जन्म पीछे क्यों न चले जायें, अध्यास का अस्तित्व सिद्ध होता ही है। अतः अध्यास प्रमाणसिद्ध और अनादि है। 'अध्यास अनन्त कैसे है? आत्मैकत्व विद्या से तो उसका नाश हो ही जाता है न?' ऐसा पूछने पर कुछ लोग कहते हैं 'अनन्त का अर्थ है ज्ञान आने तक'। यह सही नहीं है। एक की अविद्या का नाश होने पर भी बाकी लोगों में अविद्या रहती ही है, इसलिये वह अनन्त है। 'जब सबको ज्ञान प्राप्त हो जायेगा, तब तो अविद्या का अन्त हो जायेगा न?' नहीं। ऐसा कभी नहीं होगा क्योंकि जीव असंख्य हैं। 'अयं वे दश च सहस्राणि बहूनि च प्राणि भेदस्य आनन्त्यात्'— वही दस, सहस्र, बहु, अनन्तरूप है, क्योंकि प्राणि विशेष अनन्त हैं। (बृ. भा. २.५.१९) 'शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टम्'—सौ, हजार, दस हजार, न्यर्बुद, असंख्यजीव इसमें छिपे हुये हैं (अथर्वसंहिता १०.८.२४) ऐसा श्रुति कहती है। इसलिये, कितने भी मुक्त हो जायें, अमुक्त जन रहेंगे ही। 'समस्त जीवों को परिमित समय में मुक्ति मिले तो'? यह नहीं हो सकता। यह साध्य रहा होता तो अब तक बीते अनन्त काल में ही यह हो गया होता। इस प्रकार, हमेशा रहने वाले अविद्यायुक्त जीवों के लिये ईश्वर जन्म देता ही रहेगा। यह ईश्वर की मायाशक्ति से होता है। अतः, जैसे अध्यास अनादि और अनन्त है, वैसे ही माया भी अनादि और अनन्त है।

नैसर्गिक का अर्थ है स्वाभाविक। अनादि होने से अध्यास नैसर्गिक ही है।

सकललोकप्रत्यक्षः ऊपर वर्णन किया गया कि अध्यास के लिये अनुभव ही प्रमाण है, इसलिये समझाते ही सब इसको स्पष्ट रूप से समझ जाते हैं। अतः इसको सकललोकप्रत्यक्ष कहा है। यदि हम प्रत्यगात्मा के स्थान पर शुद्धात्मा को रखते हैं तो अध्यास सकललोकप्रत्यक्ष नहीं होगा।

आत्मैकत्वविद्याप्राप्तिः—अध्यास इसी से नष्ट होता है। जो वह नहीं है, उसमें उसकी बुद्धि ही अध्यास है। अर्थात् 'वह', और 'जो वह नहीं है वह', ऐसा द्वैत अध्यास में रहता ही है। यहाँ क्षेत्रज्ञ ही 'वह' है और क्षेत्र 'उससे अन्य' है। विपर्ययाध्यास में क्षेत्र वह है और क्षेत्रज्ञ उससे अन्य है। ये दोनों ही पूर्वदृष्ट हैं। इसलिये क्षेत्रज्ञ में अतस्मिन् तद् बुद्धि के लिये अवकाश है। परन्तु आत्मा के विषय में ऐसा नहीं है, दोनों आत्मा है। 'ग्रहणग्राहकाभासं विषयिविषयाभासं, विज्ञानस्पन्दितं स्पन्दितमिव स्पन्दितमविद्यया'—अचल आत्मा ही अविद्या से विषयी और विषय के रूपों में भासता है (मां. का. भा. ४.४७)। इसलिये, जो अपनी आत्मा को जानता है उसमें द्वैत नहीं, इसलिये अध्यास नहीं, इसलिये कर्म नहीं, इसलिये जन्म नहीं। मोक्षस्वरूप यह आत्मा उपनिषदों से ही जानी जा सकती है। आत्मा औपनिषदपुरुष है। वेद का प्रथम भाग कर्मकाण्ड है जो अविद्यावान् को ही लक्षित करके कहा गया है। वेद का अन्तिम भाग उपनिषद (वेदान्त) है। यह उसको लक्षित करके कहा गया है जो अपनी अविद्या को नष्ट करना चाहता है। यह आत्मा स्वयं ही है यह जानना ही मुक्ति है।

शारीरक का अर्थ है शरीर में निवास करने वाला जीव। मीमांसा का अर्थ है पूज्य विचार। अति पूज्य ब्रह्म ही है। शारीरकमीमांसा का विषय यही ब्रह्म है। वेदान्तसूत्रों के समन्वय और अविरोध नामक पहले दो अध्यायों में यह सिद्ध किया गया है कि क्षेत्र का स्वरूप ब्रह्म ही है। तीसरे साधना अध्याय में सिद्ध किया गया है कि क्षेत्रज्ञ भी यही ब्रह्म है। इसमें ज्ञानसाधक उपासनाओं का विषय भी है। अन्तिम फलाध्याय में मोक्ष के लक्षण बताये गये हैं।

(२४.२) इस आत्मविद्याप्रतिपत्ति के लिये शारीरकमीमांसा के अनुसार क्रम ये है:-पहले अध्यासविमर्शा से क्षेत्रज्ञ को क्षेत्रधर्मों से अलग करते हैं। इससे तत्त्वमसि महावाक्य में त्वं पद का निश्चय हो जाता है, जो कि प्रत्यगात्मा प्राज्ञ ही है। यह सभी का अनुभव है कि प्राज्ञ स्वयं अपने को नहीं जानता है। इसलिये ऐसा करना प्रथम सोपान है। क्षेत्र जगत् को अपने धर्मों-अनृतत्व, जड़त्व, परिच्छिन्नत्व से अलग करके जगत्तत्त्व समझाया जाता है। इसके लिये श्रुति मृद्-घटादि दृष्टान्त देकर जगद्धर्म और जगत्तत्त्व का कार्यकारण सम्बन्ध बताती है। जगत् में विकार द्वारा दिखायी देने वाले अनृतत्वादि धर्म वाचारंभण नामधेय हैं। यह कार्य है; इसके द्वारा ही कारण जाना जाता है और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। कारण में कार्यधर्म नहीं है। परन्तु, कारण के ज्ञान के लिये कार्य का नाश भी तो नहीं कर सकते और स्वयं नाश होने तक प्रतीक्षा करें ऐसा भी कहने में मतलब नहीं है। इसलिये, कार्य के रहते समय ही उसमें छिपे हुये कारणतत्त्व को कार्यधर्मों से अलग करके हमें समझाना है। अलग करने का क्या मतलब है?:- 'इन्द्रियगोचर विकार भी कारणतत्त्व ही है, नहीं तो वह विकार अस्तित्व में ही नहीं आ सकता था-**कार्याकारोऽपि कारणस्य आत्मभूत एव अनात्मभूतस्य अनारभ्यत्वात्**' (सू.भा.२.१.१८)। इस कार्य-कारणअनन्यत्व को श्रुतिप्रमाण से समझना है। 'कार्य-कारणअनन्यत्व कहने पर भी कार्य कारणस्वरूप का है, न कि कारण कार्यस्वरूप का है-**अनन्यत्वेऽपि कार्यकारणयोः कार्यस्य कारणात्मत्वं न तु कारणस्य कार्यात्मत्वं**' (सू.भा.२.१.९)। यह समझ जगत् के विषय में रहनेवाली परमार्थदृष्टि का फल है। इस समझ की प्राप्ति से इन्द्रियों के अनृतादि धर्मों को देखते रहने पर भी क्षेत्र के ब्रह्मस्वभाव का बोध प्राप्त होता है। यही तत्पदार्थ है। घट अनेक होने पर भी मृद्दृष्टि से जैसे एक ही हैं, उसी प्रकार समस्त विश्व ब्रह्म है-'**ब्रह्मैवेदं विश्वम्**' (मु.२.२.११)। यह ब्रह्म, कार्य से विलक्षण, सत्य-ज्ञान-अनंत है। इसके निश्चयानन्तर निदिध्यासन से '**तत्त्वमसि**'-वह तुम ही हो (छा. ६.८.७) यह अवगति प्राप्त होती है। यही है ब्रह्म-आत्मैकत्व विद्या। इस आत्मस्वरूप का आश्रय लेने से बाह्याकार (सामने रहने पर भी) भेदबुद्धि नष्ट हो जाती है-'**बाह्याकार भेदबुद्धि निवृत्तिरेव आत्मस्वरूपावलंबन- कारणम्**' (गी.भा. १८.५०)। यही है सर्वात्मभाव यानि मोक्ष। (बृ. ४.३.२१)।

२५. अध्यासभाष्य व्याख्यान के परिशिष्ट विचार

२५. इस व्याख्यान के पश्चात् कुछ बताना अभी शेष है:-

(२५.१) अध्यासभाष्योक्त अस्मत्प्रत्ययगोचर प्रत्यगात्मा तुरीय (शुद्धात्मा) नहीं हो सकता क्योंकि वह अज्ञानी के अनुभव में रहनेवाला प्रत्यगात्मा नहीं है। शुद्धात्मा अन्वेष्टव्य है, विजिज्ञासितव्य है— **‘सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः’** (छा. ८.७.१); अतः वह पूर्वदृष्ट नहीं है, इसलिये स्मृतिरूप में नहीं आ सकता। **‘आत्मैवेदं सर्वम्’**—यह सब कुछ आत्मा ही है (छा. ७.२५.२) इसलिये उससे परत्र कुछ है ही नहीं; अतः शुद्धात्मा में **‘स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः’**, इस अध्यासलक्षण वाक्य का अन्वय नहीं होता। आत्मा अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य और अव्यपदेश्य होने के कारण निर्धर्मक है; इसलिये, **अन्यत्र अन्यधर्मावभास** भी असंभव है। वह एकान्तेन विषयी है, और एकान्तेन अविषय है। वह किसी को कभी भी विषय नहीं होता। **‘यः तु आत्मशब्दस्य इतिपरः प्रयोगः आत्मशब्दप्रत्ययोः आत्मतत्त्वस्य परमार्थतोऽविषयत्वज्ञापनार्थम्’**—आत्मा शब्द का जो ‘इति’ शब्द लगाकर प्रयोग किया गया है वह परमार्थतः आत्मशब्द और आत्मप्रत्यय का अविषयत्व सूचित करने के लिये है (बृ.भा.१.४.७)। जो ज्ञानी को भी विषय नहीं है, वह क्या अज्ञानी को अस्मत्प्रत्ययगोचर हो सकता है? ‘अध्यास से अस्मत्प्रत्ययगोचर हो सकता है न?’ ऐसा पूछा तो उत्तर है, नहीं। अध्यास के लिये अधिष्ठान का सामान्यज्ञान आवश्यक है। अज्ञानी को तो वह भी नहीं है; यही है आत्मा का अविषयत्व। तद्विपरीत, स्वानुभव में सबको प्राज्ञ का सामान्यज्ञान है; यही प्राज्ञ का विषयत्व है। इसलिये, वही अस्मत्प्रत्ययगोचर है। आत्मा तो उसका साक्षी है। भाष्यकार ने इसको ऐसे स्पष्ट किया है: **‘ननु आत्मा अहंप्रत्ययविषयत्वात् उपनिषत्सु एव विज्ञायते इति अनुपपन्नम्? न। तत् साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात्’**—आत्मा ‘मैं’ इस प्रतीति का विषय होने से उपनिषदों से ही जाना जाता है, यह कथन अयुक्त है न? नहीं। क्योंकि कह चुके हैं कि आत्मा उसका भी साक्षी है (सू.भा. १.१.४)। इस तरह अविषय होने के कारण आत्मा एकान्तेन प्रकाशस्वरूप है; यदि विषय होता तो तमोरूप होता। **‘एकात्मप्रत्ययसारं’** तुरीय (मां. ७) प्रत्ययगोचर नहीं हो सकता। तुरीय प्रत्यगात्मा होने पर भी अध्यास करने वाले जीव को अपरोक्ष नहीं है, इसलिये अप्रसिद्ध है। अर्थात्, **‘प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः’** यह वर्णन तुरीय शुद्धात्मा को अन्वय नहीं होता। इतना ही नहीं। तुरीयात्मा प्रत्यगात्मा होने पर भी, प्रत्यगात्मामात्र नहीं, वह अनंत है, सर्वात्मा है। प्राज्ञ का शरीरादि से सम्बन्ध रहता नहीं है, फिर भी जाग्रत् में उसमें अध्यास होता है; यह समझाते ही सभी को समझ में आ जाता है। अतः, अध्यास को सकललोकप्रत्यक्ष कहा है। लेकिन, **‘आत्मा में अध्यास हुआ है’** यह अनुभववेद्य नहीं है। इसलिये ऐसा अध्यास सकललोकप्रत्यक्ष नहीं है। इसके परिणामस्वरूप, अध्यास के नाश के लिये जिज्ञासु में प्रवृत्ति पैदा नहीं होती, वक्ता की कल्पनामात्र रूप रह जाती है। इतना ही नहीं, तद्विपर्यय अध्यास में देह अधिष्ठान है और प्रत्यगात्मा अध्यस्त है। यह प्रत्यगात्मा अगर तुरीय है तो ‘तदन्य’ देह में अन्यधर्माध्यास नहीं हो सकता क्योंकि तुरीय तो निर्धर्मक है। यदि कहो कि ‘तुरीय के ज्ञानानन्द का अध्यास तो हो सकता है न?’ तो नहीं, क्योंकि ज्ञानानन्द तो तुरीय का स्वरूप ही है, अज्ञानी को गोचर होने वाला धर्म नहीं—यह सदैव स्मरण रखना चाहिये।

(२५.२) इस प्रकार, प्रत्यगात्मा के स्थान पर शुद्धात्मा को रखने का असाधुत्व सिद्ध होने के पश्चात् शुद्धात्मा को रखने से हानि क्या होती है यह बताना भी आवश्यक है:-

जो प्रत्यगात्मा की जगह आत्मा को रखते हैं वे कहते हैं कि जो अध्यस्त है वह असत् है। यदि यह स्वीकार करते हैं तो प्राज्ञ के विषय में केवल बुद्धि, इन्द्रिय, अपने और पुत्रभार्यादियों के शरीरमात्र ही अध्यस्त होने से उतना मात्र ही असत् होगा, बाकी सूर्यचन्द्रादि अनध्यस्त जगत् असत् न होकर बच जायेगा। आत्मा के विषय में ऐसा नहीं है। यह कहा जाता है कि सम्पूर्ण जगत् शुद्धात्मा में अध्यस्त होने से असत् है, 'असत् कैसे है? इन्द्रियवेद्य हो रहा है न?' ऐसा पूछा तो वे कहते हैं:- 'रज्जु में जैसे सर्प दिखायी देने पर भी असत् है, वैसे ही आत्मा में अध्यस्त जगत् दिखायी देने पर भी असत् है। इसलिए, भाष्य में सैंकड़ों स्थानों पर जगत् को मिथ्या यानी अविद्याकल्पित कहा है। यह गलत है क्योंकि इसी दृष्टान्त को ही लेकर भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि जगत् असत् नहीं है। 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति'-उसने ईक्षण किया कि मैं बहुरूप से उत्पन्न हो जाऊँ। इस श्रुतिवाक्य का व्याख्यान करते समय भाष्यकार कहते हैं 'यथा मृद्घटाद्याकारेण, यथा वा रज्ज्वादि सर्पाद्याकारेण बुद्धिपरिकल्पितेन। असदेव तर्हि सर्वं यद्गृह्यते रज्जुरिव सर्पाद्याकारेण? न। सत एव द्वैत भेदन अन्यथा गृह्यमाणत्वात् न असत्त्वं कस्यचित् क्वचित्'-जिस प्रकार कि मृत्तिका घटादि के आकार से अथवा जिस प्रकार बुद्धि से परिकल्पित सर्पादि आकार से रज्जु उत्पन्न होती है। (यदि कहो कि) तब तो रज्जु जिस प्रकार सर्पादि आकार से ग्रहण की जाती है उसी प्रकार जो कुछ ग्रहण किया जाता है वह असत् ही है (तो इसका उत्तर है) नहीं। द्वैतभेद के कारण सत् ही अन्यथारूप से गृहीत होने के कारण कभी भी किसी भी पदार्थ की असत्ता नहीं है (छा. भा. ६.२.३)। क्या विश्वरूपदर्शन असद्दर्शन है? क्या असद्दर्शन के लिए अर्जुन को भगवान् को दिव्यदृष्टि देनी पड़ी? इसलिये, रज्जु में दिखायी देने वाले सर्प के समान जगत् भी असत् है-यह कल्पना, बहुरूप में खड़े होने के संकल्प के कारण ब्रह्म ने स्वयं जगदाकार लिया-इस श्रुतिवचन के अत्यन्त विरुद्ध है। भाष्यविरुद्ध भी है। 'सद् एव सोम्य इदम् अग्र आसीत्'-सोम्य! यह पहले सत् ही था (छा.६.२.१)। अर्थात्, सृष्टिपूर्व जब इन्द्रियवेद्य नहीं था, तब भी जो सत् था, वही जगत् सृष्टि पश्चात् जब इन्द्रियवेद्य हो रहा है, तब असत् कैसे होगा? 'भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि स्वप्नदृश्य जैसे जाग्रद्दृश्य भी असत् है। इसके बारे में शंका नहीं की जा सकती... वह मिथ्या ही है- जाग्रद् दृश्यानामपि.... असत्त्वं स्वप्नदृश्यवत् अनाशंकनीयम्....मिथ्यैव ते। (मां. का. भा. २.७)। इसका समन्वय कैसे होता है?' ठीक है। आत्मैकत्व का निश्चय करने के पश्चात् इस प्रकार कहा जा सकता है। क्योंकि अवस्थात्रय के एकात्मप्रत्ययसार आत्मा से जगत् भिन्न नहीं है। आत्मा के लिये दृश्य कुछ नहीं रह सकता लेकिन अज्ञानी का आक्षेप है कि वह जगत् को देख रहा है। दिख पड़ रहा है तो वह इस आत्मा से भिन्न ही होना चाहिए। इसलिये वह असत् ही है। स्वप्न में दिख पड़ने वाले रथादि के समान वह भी मिथ्या ही है। लेकिन आत्मैकत्व को सिद्ध करने के पूर्व जगत् का अविथत ही कहा है-अर्थात्

व्यावहारिक सत्य है—‘तदेतत् सत्यं अवितथम्। किं तत्?...मन्त्रेषु.....कर्माणि.....’ (मु. भा. १.२.१) जगत् सदा है कभी नष्ट नहीं होता। ‘यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति एवं कार्यम् अपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति’—जैसे कारण ब्रह्म तीनों कालों में सत्ता से व्यभिचरित नहीं होता, उसी प्रकार, कार्य जगत् भी तीनों कालों में सत्ता से व्यभिचरित नहीं होता है (सू.भा. २.१.१६)।

शंकाः—हम यदि इस प्रकार नामरूपोपाधि (जगत्) की सत्ता मानें, तो क्या एक ही है दूसरा नहीं, यहाँ कुछ भी नानात्व नहीं इत्यादि अद्वैतश्रुतियों से विरोध नहीं होगा?

उत्तरः—ऐसा नहीं है। मृदादि दृष्टान्तों के द्वारा इसका परिहार किया गया है। परमार्थदृष्टि से देखने पर मृद्विकार जैसे मृद् से अलग नहीं होते, वैसे ही जगत् ब्रह्म से अलग नहीं है। यह समझ ही एकमेवाद्वितीय नेह नानास्ति किंचन इत्यादि परमार्थदृष्टि का बोध है। जब अविद्या के कारण नामरूपोपाधि दृष्टि ही रहती है, तभी वस्त्वन्तर के सारे व्यवहार होते हैं। भाष्यकार इसको इस प्रकार समझाते हैं:—

‘**नामरूपोपाध्यस्तित्वे—एकमेवाद्वितीयम् नेह नानास्ति किञ्चन इति श्रुतयः विरुध्येरन्निति चेत्? न। यदा तु परमार्थं दृष्ट्या.....मृदादिविकारवद्वस्त्वन्तरे तत्त्वतो न स्तः.....तदा तदपेक्ष्य एकमेवाद्वितीयम्, नेह नानास्ति किञ्चन इत्यादि परमार्थदर्शनम्.....यदा तु अविद्यया.....नामरूपोपाधिदृष्टिरेव च भवति स्वाभाविकी, तदा सर्वोऽयं वस्त्वन्तरास्तित्वव्यवहारः**’—किन्तु नाम-रूप उपाधि की सत्ता स्वीकार करने पर तो एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, यहाँ नाना कुछ नहीं है, इन श्रुतियों से विरोध होगा ऐसा कहें तो? नहीं। जब परमार्थदृष्टि से मृत्तिकादि के विकार के समान ही परमात्मतत्त्व से वस्तुतः भिन्न कोई पदार्थ नहीं रहते, तब उस दृष्टि की अपेक्षा से ही एक ही अद्वितीय है, यहाँ नाना कुछ नहीं है इस परमार्थदर्शन का बोध होता है। परन्तु जब स्वाभाविकी अविद्या के कारण नाम-रूप उपाधि की ही दृष्टि रहती है, तब उस समय यह ब्रह्म से भिन्न वस्तु की सत्ता से सम्बन्ध रखनेवाला सारा व्यवहार होता है। (बृ.भा.३.५.१)

‘**नेह नानास्ति किञ्चन**’—(ब्रह्म में) किंचित भी नानात्व नहीं (बृ.४.४.१८) इस ज्ञान के लिये, अर्थात् ब्रह्मैकत्व के लिये प्रमाण श्रुति है, इन्द्रियां नहीं; और नानात्व के लिये इन्द्रियां प्रमाण हैं श्रुति नहीं। एक प्रमाण दूसरे प्रमाण के विरुद्ध नहीं होता है; दूसरे को जो विषय नहीं है उसी को वह समझाता है—‘**न च प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुध्यते, प्रमाणान्तराविषयमेव हि प्रमाणान्तरं ज्ञापयति**’ (बृ.भा.२.१.२०)। इसलिये, श्रुत्युक्त ब्रह्मैकत्व को सिद्ध करने के लिये इन्द्रियवेद्य नानात्व का निराकरण क्यों करना? ऐसा करना आवश्यक नहीं है। अर्थात्, शास्त्र वस्तु के दर्शन में दृष्टिभेद बताता है, वस्तु में नहीं। ब्रह्म एक ही है, वही आत्मा है; इसलिये, आत्मा में नानात्व नहीं है।

परन्तु, आत्मविद्याप्राप्त्यनंतर भी जगत् अदृश्य तो नहीं हो जाता। फिर वह कैसे दिखायी देता है? विद्याप्राप्ति के पूर्व भिन्न दिखने वाला जगत् अब ज्ञानी को अभिन्न दिखता है। अपने से अलग जो कुछ अन्य दिखायी देता है वह अविद्याकृत होने से, विद्या के द्वारा उसका अवस्तुत्व दिख पड़ता है। मोतियाबिन्द

रहित नेत्रवान् को जो नहीं दिखायी पड़ता वही द्वितीयचन्द्र का असत्त्व है—‘अन्यस्य च अविद्याकृतत्वे विद्यया अवस्तुत्वदर्शनोपपत्तिः । तद्धि द्वितीयचंद्रस्य असत्त्वं यद् अतैमिरिकेण चक्षुष्मता न गृह्यते’ (तै.भा. २.८७)।^१ इसलिये, पहले अपने से अलग दिखायी देने वाला अविद्याकल्पित जगत् विद्याप्राप्ति के बाद नहीं दिखता। जगत् को अपने से अलग देखनेवाला मिथ्यादर्शी है, उसे मोक्ष नहीं मिल सकता। ‘जो ब्रह्म, क्षत्र (लोक, देवता, भूत, या कुछ भी) को आत्मा से अलग देखता है, उस मिथ्यादर्शी का वही मिथ्यादृष्ट जगत् निराकरण कर देता है’, कहकर भेददृष्टि की निन्दा करके ‘ये सब कुछ आत्मा ही है’, इस प्रकार सर्ववस्तुजात की आत्मा से अभिन्नत्व की अवतरणिका की है—‘यो हि ब्रह्मक्षत्रादिकं जगत् आत्मनो अन्यत्र स्वातन्त्र्येण लब्धसद्भावं पश्यति तं मिथ्यादर्शिनं तद् एव मिथ्यादृष्टं ब्रह्मक्षत्रादिकं जगत् पराकरोति इति भेददृष्टिम् अपोद्य इदं सर्वं यद् अयमात्मा इति सर्वस्य वस्तुजातस्य आत्माव्यतिरेकम् अवतारयति’ (सू.भा.१.४.१९)। इसलिये, जगत्मिथ्यात्व की कल्पना श्रुति और भाष्य दोनों के ही विरुद्ध है।

(२५.३) ऐसी कल्पना करने वालों से अगर पूछा जाये कि मिथ्यावस्तु व्यवहार योग्य नहीं होती, लेकिन अनृत जगत् तो व्यवहार योग्य है न? तो वे कहेंगे ‘व्यवहार भी मिथ्या ही है’। उनको अनृत, मिथ्या, अनिर्वचनीय, प्रातिभासिक सत्य, व्यावहारिक सत्य—इनमें कुछ भी अंतर नहीं नज़र आता। उनके अनुसार सबका एक ही अर्थ है। लेकिन भाष्यानुसार अनृत व्यावहारिक सत्य है, मिथ्या नहीं। ‘एकम् एव हि परमार्थसत्यं ब्रह्म इह पुनः व्यवहारविषयम् आपेक्षिकं सत्यं मृगतृष्णिकाद्यनृतापेक्षया उदकादि सत्यम् उच्यते। अनृतं च तद् विपरीतम्। किं पुनः एतत् सर्वम् अभवत्? सत्यं परमार्थसत्यम्’—परमार्थ सत्य एकमात्र ब्रह्म ही है। यहाँ तो व्यवहारविषयक सत्य से ही तात्पर्य है, जैसे कि मृगतृष्णा आदि असत्य की अपेक्षा से जल आदि को सत्य कहा जाता है। उससे विपरीत (मृगतृष्णा) को अनृत कहा जाता है। तो फिर यह सब भी क्या हो गया? सत्य, परमार्थसत्य (तै.भा.२.६.१)।

इतना ही नहीं, व्यवहार भी मिथ्या नहीं है। ज्ञानी के लिये सर्वव्यवहार और सर्वविकार सद् रूप से देखने के कारण सत्य ही है—‘सदात्मना सत्यत्व अभ्युपगमात्.....सर्वव्यवहाराणां सर्वविकाराणां च सत्यत्वं’ (छा.भा. ६.३.२)। आत्मज्ञान से पूर्व, उत्पत्ति और प्रलय अपने से भिन्न सत् से होते थे। किन्तु अब, सत् का आत्मत्व ज्ञात होने पर वे अपनी आत्मा से ही होने लगे। इसी प्रकार ज्ञानी का और भी सब व्यवहार आत्मा से होने लगता है—‘प्राक् सदात्मविज्ञानात् स्वात्मनः अन्यस्मात् सतः.....उत्पत्तिप्रलयौ अभूताम्। सदात्मविज्ञाने तु सति इदानीं स्वात्मत एव संवृत्तौ। तथा सर्वोऽप्यन्यो व्यवहारः आत्मनः एव विदुषः’ (छा.भा. ७.२६.१)

१. आनन्द आश्रम द्वारा प्रकाशित आनन्दज्ञान की टीका में ‘असत्त्वं’ के स्थान पर सत्त्वं पाठ है। परन्तु, काशी हितचिन्तक मुद्रणालय और श्रीरंगा के वाणीविलास मुद्रणालय, दोनों पाठों में असत्त्वं ही है, जो कि सही भी है।

(२५.४) जगन्मिथ्यात्वकल्पना की रक्षा के लिये कल्पनाओं की एक शृंखला ही है। उसे अब देखें। इसमें पहिले माया-अविद्या के विषय में-

जगत् को असत् कहने पर, श्रुतिस्मृतिपुराणों में वर्णित जन्मस्थितिलय की कारणरूप से प्रसिद्ध माया के लिये स्थान नहीं रहता। असत् होने पर भी जगत् अविद्या से दिखता है, ऐसा कहने से माया की प्रतिष्ठा पर अविद्या का आक्रमण नजर आता है। इसलिये, विकृत तर्क से, माया की नकल करनेवाली, अविद्यारूपी एक विचित्र अनिर्वचनीयत्व की भी कल्पना की गयी (अध्यासभाष्य १४.४)। तब कुछ लोगों को सन्मात्र नित्यशुद्धबुद्धमुक्त ब्रह्म अविद्याशबल हुआ। और कुछ के लिये माया-अविद्या पर्याय हो गयी। कुछ के लिये माया अविद्याकल्पित बनी। विद्या से अविद्या का जब नाश होता है, तब कुछ लोगों के अनुसार माया का भी नाश हो जाता है। और कुछ को तो ज्ञानी में भी अविद्यालेश दिखायी दिया। कुछ के लिये अविद्या माया का कार्य हो गयी-आवरणविक्षेप शक्ति से जीवों को छलने वाली हुयी। लयकाल में ब्रह्म एक ही रहने से माया नहीं रह सकती, इसलिये वह अनित्य बनी। ईश्वर मायोपाधिक होने से लयकाल में ईश्वर का भी लय होता है इत्यादि। वेदान्तसाहित्य में पायी गयी ये विभिन्न प्रक्रियायें हैं। किसलिये? जगन्मिथ्यात्व की रक्षा के लिये। भाष्योक्त अद्वैतसिद्धि के लिए नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि अद्वैतसिद्धान्त के लिये ये सब अलग अलग प्रक्रियायें हैं। हमें यह कथन बालिश दिखता है। क्यों? देखो! पहले ब्रह्म का अविद्याशबलत्व जो कि उच्चारण के लिए भी एक अयोग्य और अशुभ कल्पना है उसके विषय में: सिद्धान्त कहता है कि अविद्यायुक्त जीव नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव ब्रह्म से अलग नहीं है, लेकिन ब्रह्म उससे अलग है। 'परमात्मनः जीवाद् अन्यत्वं, जीवस्य तु न परस्माद् अन्यत्वम्' (सू.भा. १.३.१९)। ब्रह्म ने अपने को ब्रह्म समझा- 'आत्मानम् एवावेत् अहंब्रह्मास्मि इति' इसके भाष्य में कहा है- 'ब्रह्मणि अविद्यानुपपत्तिः इति चेत्? न। ब्रह्मणि विद्या विधानात्।.... न ब्रूमः.....ब्रह्मणि अतद्धर्माध्यारोपणा नास्तीति। किं तर्हि? न ब्रह्म स्वात्मनि अतद्धर्माध्यारोपण निमित्तम् अविद्याकर्तृ च इति। भवतु एवं न अविद्याकर्तृ भ्रान्तं च ब्रह्म। किंतु न एव अब्रह्म अविद्याकर्ता चेतनो भ्रान्तोऽन्यः इष्यते' किन्तु ब्रह्म में अविद्या होना ही असंगत है? नहीं, क्योंकि ब्रह्म में विद्या का विधान किया गया है। पूर्वपक्षी:- हम यह नहीं कहते कि ब्रह्म में अब्रह्म के धर्मों का आरोप नहीं है। तो फिर क्या कहते हैं? यही कि ब्रह्म अपने में अब्रह्म धर्मों के आरोप का निमित्त और अविद्या करने वाला नहीं है। सिद्धान्ती:-यह हो सकता है कि ब्रह्म अविद्या का कर्ता और भ्रान्त न हो, किंतु अविद्या का कर्ता कोई अन्य अब्रह्म भ्रान्त चेतन है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। (बृ.भा.१.४.१०)

माया-अविद्या पर्यायत्व के विषय में:- 'देहादि संघाताः आत्ममाया विसर्जिताः। आत्मनः माया अविद्या, तथा प्रत्युपस्थापिताः-देहादि संघात आत्ममाया विसर्जित है। आत्मा की माया है अविद्या जिससे वे सामने उपस्थापित है' (मा. का. भा. ३.१०) कहकर आत्म शब्द का अर्थ जीवात्मा लेते

समय माया शब्द का अर्थ अविद्या लिया है। अगले श्लोक में 'पर एव आत्मा यः पूर्व सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म इति प्रकृतः। यस्मादात्मनः.....संघाताः आत्ममाया विसर्जिताः सत्यं ज्ञानं अनन्तं' ब्रह्म ही प्रकृत पर आत्मा है। उसी आत्मा से विसर्जित संघात आत्ममाया विसर्जित संघात है (मा. का. भा. ३.११) कहकर आत्म शब्द का अर्थ परमात्मा लेते समय माया शब्द का अर्थ माया ही लिया है। इस प्रकार माया-अविद्या को भाष्यकार अलग करके ही दिखाते हैं। उतना ही नहीं। 'अहंकार इति अविद्यासंयुक्तम् अव्यक्तम्।'-(गीता. भा. ७.४) 'अविद्यादि अनेकसंसारबीजम् अन्तर्दोषवत् माया'-(गी.भा. १२. ३) 'प्रकृतिस्थत्वाख्या अविद्या संसारस्य कारणम्'-(गी.भा. १३.२१) 'प्रकृत्या.....अविद्यारूपः संयोगः संसारः' (गी.भा. १३.२०) इत्यादि वाक्यों से अविद्या-मायापर्यायत्व अत्यन्त विरुद्ध है। इतना ही नहीं, पर्यायत्व कहकर अविद्या की एक विचित्र अनिर्वचनीयत्व की कल्पना की है। लेकिन अध्यासभाष्य और दूसरे स्थानों में तो विस्तृत विमर्शा करके अग्रहण-संशयग्रहण-अन्यथाग्रहण को ही अविद्या कहा गया है। 'अविद्या विपरीतग्राहकः संशयोपस्थापकः अग्रहणात्मको वा' (गी.भा. १३.२)। 'यदि ज्ञानाभावः यदि संशयज्ञानं यदि विपरीतज्ञानं वा उच्यते अज्ञानम् इति, सर्वं हि तत् ज्ञानेन एव निवर्त्यते' (बृ. भा. ३.३.१)। यह अविद्या का स्पष्ट निर्वचन है। इसलिये, अविद्या का अनिर्वचनीयत्व भाष्यसम्मत नहीं है। इससे आगे माया का अपनी आवरणविक्षेप शक्तियों द्वारा जीव को छलने की बात भी गलत है, क्योंकि ब्रह्म माया के द्वारा ही नामरूप के आकारों में खड़ा होता है। क्यों होता है? 'रूपं रूपं प्रतिरूपोबभूव, तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय'-वह रूप रूपके प्रतिरूप हो गया। इसके रूप समझाने के लिये। 'यदि हि नामरूपे न व्याक्रियेते, तदा अस्य आत्मनो निरुपाधिकं रूपं प्रज्ञानघनाख्यं न प्रतिख्यायेत' यदि नामरूपों की अभिव्यक्ति नहीं हुयी होती तो इस आत्मा का प्रज्ञानघनसंज्ञक निरुपाधिक रूप समझ में नहीं आता। (बृ.भा. २.५.१९)। यदि ब्रह्म ने अपने आप को समझाने के लिये ही विभिन्न नामरूपों की अभिव्यक्ति की है तो फिर वह माया से जो कि उसकी निजशक्ति ही है, अपने स्वरूप पर आवरण-विक्षेप क्यों डालेगा? 'प्रकृतिश्च त्रिगुणात्मिका सर्वकार्यकरणविषयाकारेण परिणता पुरुषस्य भोगापवर्गार्थ-कर्तव्यतया देहेन्द्रियाद्याकारेण संहन्यते'-समस्त कार्य करण और विषयों के आकार में परिणत हुयी त्रिगुणात्मिका प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग का सम्पादन करने के लिये देह-इन्द्रियादि आकार से मूर्तिमान होती है (गी.भा.१३ का संबंधभाष्य)। इसीलिये, जगत् से व्यामोहित होने पर, जीव के पराङ्मुखतारूपी दोष को माया के ऊपर डालना पाप है। यही नहीं, माया का अनित्यत्व भी भाष्य के सीधा-सीधा विरुद्ध है:

'नित्येश्वरत्वाद् ईश्वरस्य तत्प्रकृत्योः अपि युक्तं नित्यत्वेन भवितुम्। प्रकृतिद्वयवत्वम् एव हि ईश्वरस्य ईश्वरत्वम्'-ईश्वर का ईश्वरत्व नित्य होने के कारण उसकी दोनों प्रकृतियों का भी नित्य होना उचित ही है, क्योंकि इन दोनों प्रकृतियों से युक्त होना ही ईश्वर की ईश्वरता है (गी.भा.१३.१९)। यहाँ बहुकाल

को ही नित्य कहा गया है, ऐसा तोड़मरोड़ कर कुछ लोग अर्थ करते हैं। यह बहुकाल जितना भी लम्बा हो परन्तु अनित्य नहीं हो सकता क्योंकि 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्'—ईश्वर ने यथापूर्व सृष्टि की (ऋ.संहिता १०.१९०.३), ऐसा श्रुति कहती है। बहुकालानंतर होने वाली सृष्टि के लिये भी माया तो आवश्यक है ही।

अविद्यालेश का विषय:

'य एव अविद्यादिदोष निवृत्ति फलकृतप्रत्ययः आद्यः अन्त्यः सन्ततः असन्ततो वा स एव विद्या'—जो भी प्रत्यय अविद्यादि दोषों की निवृत्तिरूप फल प्रदान करने वाला हो, वह आद्य, अन्त्य, संतत, असंतत, कैसा भी हो, वही विद्या है (बृ.भा. १.४.१०)।

'आत्मविषयं विज्ञानं यत्कालम्, तत् काले एव तद्विषय-अज्ञानतिरोभावः स्यात्। अतः ब्रह्मविद्यायां सत्याम् अविद्याकार्यानुपपत्तेः प्रदीप इव तमः कार्यस्य'—जिस समय आत्मविषयक ज्ञान होता है उसी समय तद्विषयक अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। अतः जिस प्रकार दीपक के रहते हुये अन्धकार का कार्य नहीं रहता उसी प्रकार ब्रह्मविद्या के रहते हुये अविद्या का कार्य नहीं रह सकता (बृ.भा. १.४.१०)।

इतना कहने के बाद अविद्यालेश के लिये स्थान नहीं रहता है।

(२५.५) इसके बाद जगत् असत् है, ऐसी घोषणा करनेवालों के लिये शास्त्रप्रतिपादित सर्वात्मभाव अत्यन्त संकट का सूचक है। इसलिये वे इसे पूरा-पूरा छोड़ देते हैं। 'अहम् अन्नम् अहम् अन्नादः अहं श्लोककृत' (तै.अ.१०.६); 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृ.१.४.१०); 'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' (गीता. ५.१८)। ये सब सर्वात्मभाव के वाक्य हैं। अन्न, अन्नाद, श्लोककृत, मनु, सूर्य, ब्राह्मणादि, सब असत् ही हैं तो सर्वात्मभाव के लिये स्थान कहां है? इसलिये, जगत् को असत् कहना गलत है।

(२५.६) इस प्रकार, अमित श्रुतहान्यश्रुत कल्पनाएं शांकर भाष्य में अध्यस्त हो चुकी हैं। ये इतनी प्रचलन में आ चुकी हैं कि लोग समझते हैं कि यही शांकरसिद्धान्त है। इसीलिये ही भाष्य का अध्ययन जिज्ञासुओं में सिद्धान्त का यथार्थज्ञान पैदा नहीं कर रहा है। इससे प्रतिपक्षी भी उत्पन्न हो रहे हैं। इतना ही नहीं, उनमें असामंजस्य और परस्पर विरोध भी है, 'यह ऐसा कहते हैं, वह ऐसा कहते हैं, तो क्या हुआ, ये तो केवल प्रक्रियाभेद हैं। सबका मूलसिद्धान्त तो एक ही है'। इस प्रकार की सामनीति यथार्थज्ञान नहीं उत्पन्न करती बल्कि और भी अधिक भ्रम पैदा करती है। सृष्टिक्रम को समझाने वाले अवान्तर स्थानों में 'पंचीकरण एक प्रक्रिया, त्रिवृत्करण एक प्रक्रिया' ऐसा शायद हो सकता है, परन्तु मूलसिद्धान्त के प्रतिपादन में प्रक्रिया नहीं रह सकती। परस्पर विरुद्ध बातों का तो प्रक्रिया होना असाध्य ही है। इसलिये, सर्वसम्मत श्रुत्युक्त अद्वैतसिद्धान्त के प्रतिपादन के लिये शांकरभाष्य के अतिरिक्त 'न अन्यः पन्था अयनाय विद्यते'।

यह ठीक है कि शांकरभाष्य के अत्यन्त सरल भाषा होने पर भी कर्मी, जिज्ञासु, संन्यासी, सभी के मार्गदर्शन के लिये होने के कारण, कुछ स्थलों में अर्थनिश्चय कठिन हो सकता है। संशय भी हो सकते हैं। उनके परिहार के लिये स्मरणयोग्य बात यह है कि विषय विस्तार होने के कारण सभी के सारे संशयों का परिहार सभी को एक ही स्थान पर नहीं मिल सकता। परन्तु, हरेक संशय का परिहार सबको भाष्य में और कहीं न कहीं लभ्य होता ही है। इस नियम का अपवाद नहीं है। यही भगवान् भाष्यकार का सर्वज्ञत्व है। वेद में अन्य प्रमाणों के विरुद्ध वाक्यों को अर्थवाद कहकर विधिनिषेध वाक्यों द्वारा उनका समन्वय किया जाता है। लेकिन भाष्य में ऐसे प्रसंग आते ही नहीं क्योंकि निस्संशय रूप से अर्थ को समझाना ही उनका उद्देश्य है। इसलिये, जिनका अर्थ निश्चय नहीं होता है, उनको खींचतान करके या फिर घुमा-फिरा कर के, या अपनी कल्पनाओं को जोड़कर अर्थ निश्चय करने का साहस अनुचित है। भाष्यों के अन्यवाक्यों से ही उन कठिन स्थलों का भी अर्थ निश्चित करना है। यह हम इसलिये कर सकते हैं क्योंकि शांकरभाष्य परिपूर्ण है। इस क्रम को यदि छोड़ा तो श्रुतहान्यश्रुत कल्पनाएं ही होंगी। इसका अतिदारुण दृष्टान्त वेदान्त शास्त्र के प्रथम पद में ही है जो कि अत्यन्त दुर्भाग्य का विषय है। गीताभाष्य के 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः विषयविषयिणोः' वाक्य को स्मरण रखने वाला कौन 'युष्मदस्मप्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोः.....' में अस्मत् शब्द का अर्थ शुद्धात्मा करेगा? क्या यही कारण नहीं है कि जगत् को असत् कहना पड़ा? असत् कहने के बाद छान्दोग्यभाष्य में 'असद् एव तर्हि सर्वं यत् गृह्यते.....' आक्षेप वाक्य के उत्तर को देखते ही कौन उस अर्थ को नहीं छोड़ेगा? ऐसा न करके अपनी कल्पना के समर्थन में डटे रहने के कारण ही माया और अविद्या को पर्याय कहना पड़ा न? 'अहंकार इति अविद्यासंयुक्तम् अव्यक्तम्' इस गीताभाष्य के वाक्य को याद रखने वाला कौन इस पर्यायत्व को आगे बढ़ायेगा? इस प्रकार एक दुष्ट कल्पना की रक्षा के लिये और एक दुष्ट कल्पना करने से इतिमितिरहित अनेक कल्पनाओं ने सिद्धान्त प्रतिपादन में प्रवेश कर लिया है। अस्मत् शब्द का अर्थ क्षेत्रज्ञ रखा होता तो, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ में भिन्नत्वमात्र दिखाकर, क्षेत्र के असत्त्व की कल्पना से साधकों को बचाया जा सकता था। इससे आगे की हुई कल्पनाओं की शृंखला से भी बचा जा सकता था। ऐसी कल्पनाओं ने सिद्धान्त के सम्यग्दर्शन में सहायक होने के स्थान पर सिद्धान्त की हानि की है। शांकरभाष्य अपने आप में परिपूर्ण है। उसमें न कुछ निकालने योग्य दोष की संभावना है, न कुछ जोड़ने योग्य गुण की संभावना है। शंकर परब्रह्म हैं, उनका प्रस्थानत्रयीभाष्य वेद है। इसे भूलना नहीं।

अविद्या भाव है या अभाव है? भाष्यकार कहते हैं—'नहि भावानां निरन्वयो निरुपाख्यो विनाशः सम्भवति' -भावों का निरन्वय निःस्वरूप विनाश नहीं हो सकता (सू.भा. २.२.२२)। परन्तु, 'अविद्यायाश्च

टिप्पणी—शास्त्र में श्रद्धा रखने वाले को भी यह संशय होता है कि जो क्षेत्रज्ञ है वही परमेश्वर कैसे हो सकता है? मुझे मुझ में ही प्रत्यक्ष रूप से दुःख दिखाई दे रहा है; अतः मैं अविद्यावान् हूँ। परमेश्वर तो आनन्दस्वरूप है, नित्य-शुद्ध-

ब्रह्मविद्या निरन्वयतो नाशितत्वात् विशेषसंज्ञा संभवो नास्ति - ब्रह्मविद्या से अविद्या का निरन्वय नाश हो चुका है। इसलिये विशेषसंज्ञा संभव नहीं है (बृ.भा. २.४.१२)।



बुद्ध-मुक्त -स्वभाव वाला है। इसलिये, मैं परमेश्वर कैसे हो सकता हूँ? इस सन्देह का कारण यह है कि क्षेत्रज्ञ स्थूल और सूक्ष्म शरीरों से अलग है। वह हमारी सुषुप्ति में अनुभूत होता है। वह आत्मा ही है। शास्त्र उसी क्षेत्रज्ञ को परमेश्वर कहता है। सुषुप्ति के अनुस्मरण से यह कोई भी समझ सकता है कि इसमें कोई असमंजस नहीं है क्योंकि सुषुप्ति में परमेश्वर के सब लक्षण स्पष्ट रूप से अनुभूत होते हैं। परन्तु सामान्यजन, जागृत अवस्था में रहने वाले अपने को, अर्थात् बहिष्प्रज्ञ को, मन में रखकर इस शास्त्रवचन पर सन्देह करते हैं। ऐसे संशयग्रस्त व्यक्ति को उसके बहिष्प्रज्ञत्व से अलग करके क्षेत्रज्ञस्थान में बिठाकर दिखाते हैं कि वहाँ अविद्या नहीं है। इसको दिखाने का क्रम भगवद्गीताभाष्य (१३.२) के अनुसार इस प्रकार है:-

संशयग्रस्तः वह अविद्या किसकी है? (सा अविद्या कस्य इति?)

सिद्धान्ती: जिसकी दिखती है उसी की है। (यस्य दृश्यते तस्यैव)

संशयग्रस्तः किसकी दिखती है? (कस्य दृश्यते इति?)

सिद्धान्ती: अविद्या किसकी दिखती है यह प्रश्न निरर्थक है (अविद्या कस्य दृश्यते इति प्रश्नः निरर्थक) क्योंकि अविद्या स्वतन्त्ररूप से नहीं रहती है। किसी का आश्रय लेकर ही रहती है। इसलिये, यदि अविद्या दिखती है तो उससे जो युक्त है उसको भी तू देखता ही होगा। (दृश्यते चेत् अविद्या तद्वन्तमपि पश्यसि)

संशयग्रस्तः ऐसा नहीं है। उदाहरण के लिये, नेत्र और नेत्र के दोष को प्रत्यक्ष देखकर वैद्य कह सकता है कि नेत्र दूषित है। उसी प्रकार अविद्या और अविद्यावान् के प्रत्यक्ष न होने के कारण सम्बन्ध नहीं समझ आता। (न तथा अविद्या तद्वांश्च प्रत्यक्षौ)

सिद्धान्ती: अप्रत्यक्ष अविद्यावान् के साथ अविद्या का सम्बन्ध जानने से तुम्हें क्या मिलेगा? (अप्रत्यक्षेण अविद्यावता अविद्यासम्बन्धे ज्ञाते किं तव स्यात्?)

संशयग्रस्तः अविद्या अनर्थ का हेतु होने से उसका परित्याग किया जा सकेगा। (अविद्याया अनर्थहेतुत्वात् परिहर्तव्या स्यात्)

सिद्धान्ती: जिसकी अविद्या है वही उसका त्याग कर देगा। (यस्य अविद्या स तां परिहरिष्यति)

संशयग्रस्तः मैं किसी और के बारे में नहीं सोच रहा हूँ। अविद्या मेरी ही है? (ननु ममैव अविद्या?)

सिद्धान्ती: तब तो तू अविद्या और उससे युक्त अपने को जानता है? (जानासि तर्हि अविद्या तद्वन्त च आत्मानम्?) अतः आरम्भ में ही कहा जा चुका है कि यह अविद्या किसकी है यह प्रश्न निरर्थक है।

संशयग्रस्तः जानता हूँ परन्तु प्रत्यक्ष से नहीं। (जानामि, न तु प्रत्यक्षेण)

सिद्धान्ती: यदि अनुमान से जानता है तो (तुं ज्ञाता के और अविद्या के) सम्बन्ध का ग्रहण कैसे हुआ? (अनुमानेन चेत् जानासि, कथं सम्बन्धग्रहणम्?) सम्बन्ध अनुमान से नहीं जाना जा सकता। इसका कारण यह है-दुःख का कारण है अविद्या। अतः जिसमें दुःख दिखता है अविद्या उसी की होती है। दुःख बहिष्प्रज्ञ में होता है, सुषुप्ति में जो ज्ञाता क्षेत्रज्ञ है उसमें नहीं। यह सबका अनुभव है। इसलिये, बहिष्प्रज्ञ के दुःख को देखकर ज्ञाता में अविद्या का अनुमान करने के लिये अविद्या तथा अविद्या और ज्ञाता का सम्बन्ध, दोनों के एक ही समय में जानना आवश्यक है। लेकिन, उस

समय तुल्य ज्ञाता का ज्ञेयरूप अविद्या के साथ सम्बन्ध ग्रहण नहीं किया जा सकता। (न हि तव ज्ञातुः ज्ञेयभूतया अविद्याया तत्काले सम्बन्धः ग्रहीतुं शक्यते) क्योंकि, अविद्या जानने वाला होने में ज्ञाता का उपयोग हो चुका है। (अविद्याया विषयित्वेनैव ज्ञातुः उपयुक्तत्वात्) अविद्यासम्बन्ध ग्रहण करने वाला और उस सम्बन्ध का ज्ञान, ये दोनों किसी दूसरे का विषय नहीं हो सकते। (न च ज्ञातुः अविद्यायाश्च संबन्धस्य यो ग्रहीता ज्ञान च अन्यत् तद्विषयं संभवति ज्ञाता) क्योंकि शरीर के बाहर रहने वाले दूसरे ज्ञाता को यह ज्ञाता अप्रत्यक्ष है।

संशयग्रस्तः यदि ऐसा है तो, मैं ही मेरे अलग-अलग करणों के द्वारा अन्य-अन्य ज्ञाता बनकर, मेरे इस सम्बन्ध का अनुमान करूँगा।

सिद्धान्तीः ना यह भी असाध्य है, क्योंकि अनवस्था दोष प्राप्त होगा। (अनवस्थाप्राप्तेः) दृष्टान्त के द्वारा इसे सरलता से जाना जा सकता है। आँख, मन, बुद्धि इत्यादि करणों के द्वारा ज्ञाता को रूप का ज्ञान होता है। रूप जब ठीक प्रकार से नहीं दिखता तब अनुमान से, 'मैं अन्धा हूँ' इस प्रकार निश्चय करने के लिये आँख का मन बुद्धि इत्यादि के द्वारा परीक्षण करना पड़ेगा। ऐसा करते समय क्रमशः रूप, नेत्र, मन इत्यादि तुम्हारे ज्ञेय होंगे और प्राप्त होनेवाला ज्ञान क्रमशः नेत्र में रूप की छाया, मन में रूप की छाया की छाया, बुद्धि में रूप की छाया की छाया की छाया..... इस प्रकार अनवस्था को प्राप्त करेगा। इसके निवारण के लिये 'तुम सदा करणों को और उनमें होनेवाली छायाओं को देखने वाले हो, अतः तुम ज्ञाता हो और अन्य सब तुम्हारे लिये ज्ञेय हैं' यह चिन्तन करना चाहिये। तुम्हारा किन्हीं भी करणों से या छायाओं के साथ कभी सम्बन्ध नहीं हो सकता अतः तुम कभी भी अन्धे नहीं हो। उसी प्रकार ज्ञेय चाहे अविद्या हो या और कुछ हो, ज्ञेय ज्ञेय ही रहेगा, वैसे ही ज्ञाता भी ज्ञाता ही रहेगा, ज्ञेय नहीं हो सकता। जबकि ऐसा है तो अविद्या या दुःखित्व आदि दोषों से ज्ञाता क्षेत्रज्ञ का कुछ भी दूषित नहीं हो सकता (यदि पुनः अविद्याज्ञेया अन्यद्वा ज्ञेय ज्ञेयमेव तथा ज्ञाता अपि ज्ञाता एवं, न ज्ञेय भवति। तदा च एवम्, अविद्यादुःखित्वाद्यैः न ज्ञातुः क्षेत्रज्ञस्य किञ्चिद् दुःष्यति)।